दर्शन और नीति

मानव सेवा संघ
वृन्दावन–281 121
(मथुरा)

दर्शन और नीति

मानव सेवा संघ के प्रवर्तक ब्रह्मलीन
सन्त प्रवर पूज्यपाद श्रीशरणानन्द जी महाराज
की अमृत वाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन–281 121 (मथुरा)

प्रकाशक

मानव सेवा संघ

वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)

पिन–२८१ १२१

◆

सर्वाधिकार सुरक्षित

◆

द्वितीय संशोधित संस्करण : ५००० प्रतियाँ

गीता जयन्ती, ७ दिसम्बर २०००

◆

मूल्य : 15 00

◆

मुद्रण–संयोजन

चित्रलेखा, बागबुन्देला, वृन्दावन–२८१ १२१

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है तथा साधक के विकास का अचूक उपाय है।)

मेरे नाथ !
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवम्,
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल,
प्रदान करें,
जिससे वे,
सुख-दुःख के,
बन्धन से,
मुक्त हो,
आपके,
पवित्र प्रेम का,
आस्वादन कर,
कृतकृत्य,
हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।

सर्वहितकारी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धान्त

१. आत्म–निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।

६. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७. निकटवर्ती जन–समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार, विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

११. व्यर्थ–चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी, सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी

कृपा से, मानव-मात्र को, विवेक का आदर तथा

बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य,

प्रदान करें, एवं,

हे करुणा सागर !

अपनी अपार करुणा से, शीघ्र ही, राग-द्वेष का

नाश करें। सभी का जीवन, सेवा

त्याग, प्रेम से परिपूर्ण

हो जाय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

भूमिका

'दर्शन' जीवन का मूल आधार है। वह सर्व के प्रकाशक का प्रकाश है, जो सत् और असत् को समानरूप से प्रकाशित करता है तथा जो विनाशी और अविनाशी का स्पष्ट विभाजन कराता हुआ वास्तविक जीवन का दिग्दर्शन कराता है। उसी की माँग मानवमात्र को है।

उस दर्शन पर आधारित सिद्धान्त के वाक्य जब भाषा द्वारा व्यक्त किये जाते हैं, तो मानव की वर्तमान वस्तुस्थिति से इतने भिन्न प्रतीत होते हैं कि व्यक्ति सहसा चौंक जाता है और कह उठता है कि दर्शन तो विवेचन के लिए है। संकल्प पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख के द्वन्द्व से भरी जो दशा है, यही जगत् का यथार्थ है। 'मैं शरीर नहीं हूँ''–इस दर्शन को सुन कर कहने लगता है कि तुम्हारे पैर में काँटा चुभे और तुम उफ़ न करो, तो समझा जाए कि तुम शरीर नहीं हो।

पर वास्तविक जीवन का रहस्य कुछ और ही है। जीवन दर्शन पर आधारित सिद्धान्त–(१) वर्तमान सबका निर्दोष है (२) जो कुछ मिला है वह अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है (३) अहम् और मम के नाश में जीवन की पूर्णता निहित है आदि–आदि को जीवन में कैसे चरितार्थ किए जाएँ, इसी मार्ग–दर्शन के लिए ''दर्शन और नीति'' पुस्तक लिखी गई है। इसमें प्रतिपादित दर्शन और नीति का अर्थ यह माना गया है कि दर्शन एक प्रकाश है और नीति उसका क्रियात्मक रूप है। नीति दर्शन का व्यावहारिक प्रयोग है। अथवा यों कहो कि दर्शन के अनुरूप जीवन की उपलब्धि के लिए उसी का प्रयोगात्मक रूप 'नीति' है। यह नीतियाँ मानव–दर्शन से प्रतिपादित हैं और उसी पर आधारित हैं। यह किसी परिस्थिति–विशेष से

उत्पन्न हुई प्रतिक्रिया नहीं हैं, जो किसी के ह्रास से किसी का विकास करने के लिए बनी हों। यह नीतियाँ मानवमात्र के जीवन की मौलिक माँग—विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम—की पूर्ति में समर्थ बनाने के लिए हैं।

मानव—जीवन का सुन्दरतम चित्र है—जीवन जगत् के लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी हो जाए। उसके अनुरूप जीवन को बनाने में यह नीतियाँ सहायक हैं। अपना जो दर्शन है अर्थात् जीवन को देखने की अपनी जो दृष्टि है, उसी के अनुरूप जीवन को ढालने में यह नीतियाँ साधनरूपा हैं।

आज का मानव—समाज व्यक्तिगत रूप से अपना कल्याण और सामाजिक रूप से संघर्षों का अन्त करना चाहता है, अमानवता को मिटाकर मानवता का साम्राज्य चाहता है; उसके लिए प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित नीतियों का पालन करना अनिवार्य है। नीति का पालन व्यवहार को सुन्दर और सुविधाजनक बनाता है, इसको सभी नीतिज्ञ जानते और मानते हैं। इसी कारण मानव—समाज में विभिन्न प्रकार की नीति की बातें प्रचलित हैं, जो पारस्परिक सम्बन्ध एवं व्यवहार को सुव्यवस्थित रखती हैं। अतः व्यावहारिक जीवन को आदर्श के अनुरूप चलाने के लिए नीति का अनुसरण अनिवार्य है। परन्तु नीति—नीति में भेद होता है। जो नीति हमें लक्ष्य की ओर अग्रसर करे वह सुनीति है, परन्तु जो नीति लक्ष्य से विमुख कर व्यक्ति को स्वार्थ—भाव में आबद्ध करे वह अनीति है। मानव—जीवन में नीति का महत्त्व है, अनीति सर्वथा त्याज्य है। प्रस्तुत पुस्तक में जो नीतियाँ प्रतिपादित हैं, वे स्रष्टा के मंगलमय—विधान से अनुप्राणित हैं तथा सर्व हितकारी भाव से भावित हैं। ये जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाली हैं, जो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में हमारा मार्ग—दर्शन कर सकती हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में नीति का प्रतिपादन दो भागों में बँटा है। प्रथम खण्ड में १२ प्रकरण हैं। प्रत्येक प्रकरण में एक नीति बताकर

उसके सहयोगी अंगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। स्पष्ट रूप से यह बताने का प्रयास किया गया है कि किस नीति का अर्थ क्या है और उसका व्यावहारिक रूप क्या है ? साथ ही उस नीति की पृष्ठभूमि में जो दर्शन है, उस दर्शन को बताते हुए यह विवेचन किया गया है कि किस प्रकार अमुक नीति जीवन में पूर्णता लाने में सहायक है। नीति का सविस्तार पठन एवं मनन करने से ऐसा भासित होने लगता है कि प्रत्येक नीति मानव–जीवन के लिए साधनरूपा है, जिसे मान कर चलने वाले के व्यक्तिगत जीवन में विकास अवश्यम्भावी है, साथ ही सामाजिक संघर्ष का भी नाश है।

द्वितीय खण्ड 'आचार–संहिता' नामक पुस्तक में १०८ फुटकर गद्यखण्ड दिये गये हैं, जिनमें १०८ नीतियों का संक्षिप्त उल्लेख है। सम्पूर्ण पुस्तक जीवनोपयोगी बातों से परिपूर्ण है। प्रत्येक नीति मानव–दर्शन की ठोस पृष्ठभूमि पर आधारित मानवजीवन से इतना गहरा सम्बन्ध रखने वाली है कि किसी भी एक नीति का सर्वांशतः पालन किया जाए, तो जीवन में से सम्पूर्णतः असाधन का नाश एवं निर्दोषता की अभिव्यक्ति सहज रूप से हो जाए।

प्रथम बारह प्रकरणों में मुख्यतः निम्नलिखित नीतियाँ प्रतिपादित हैं–

(१) न्याय और निर्दोषता का सम्बन्ध।

(२) बल का दुरुपयोग मत करो। अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रखो।

(३) अधिकार–लालसा से शून्य कर्त्तव्य 'न्याय' को 'प्रेम' में विलीन करता है।

(४) वर्तमान सभी का निर्दोष है। सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय मूल दोष है।

(५) अपनी पद्धति में विशेषता तथा दूसरों की पद्धति में न्यूनता का दर्शन करना भेद तथा संघर्ष को जन्म देना है।

(६) सिक्के से वस्तु और वस्तु से श्रम को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। इस नीति से संघर्ष का नाश होगा।

(७) अपना गुण एवं पराए दोष देखने से पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती।

(८) अपने दुःख–सुख का कारण दूसरों को मानना भूल है। अन्याय का अन्त न्याय तथा प्रेम से होता है।

(९) जीवन का आरम्भ पराधीनता से और उसके विकास की परावधि स्वाधीनता में होती है।

(१०) मिली हुई सामर्थ्य के दुरुपयोग से असमर्थता आती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करने से सामर्थ्य आती है।

(११) सुन्दर व्यक्तियों के निर्माण में ही सुन्दर समाज का निर्माण है।

नीति वही सार्थक है, जो दोषों के नाश में और निर्दोषता की अभिव्यक्ति में सहायक है।

(१२) मानव के दर्शन में अनेक भेद होने पर भी उद्देश्य की एकता है। किसी के अहित की भावना किसी भी मानव को नहीं रखनी है। विधान की अधीनता में ही स्वाधीनता है। निज–विवेक ही विधान का प्रतीक है।

पुस्तक के रचयिता ने सम्पर्क में आने वाले साधकों की व्यावहारिक कठिनाइयों का नीति–युक्त समाधान कराने की बात को दृष्टि में रख कर विभिन्न नीतियों का उल्लेख किया है। सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी नीतियों का समावेश इस पुस्तक में है। व्यवहार सम्बन्धी सभी कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; फिर भी अनेकों ऐसी बातों का उल्लेख इसमें है, जिससे जीवन की मुख्य समस्यायें सुलझ सकती हैं।

द्वितीय खण्ड 'आचार–संहिता' में नीति के सम्बन्ध में कुछ

आवश्यक विवेचन आया है, जिससे यह प्रकाश मिलता है कि नीति के निर्माण एवं उसके अनुसरण की उपयुक्त विधि क्या है। जैसे–

(क) विधान का निर्माण वीतराग पुरुष कर सकते हैं, अन्य नहीं।

(ख) जो विधान अनन्त के मंगलमय विधान से अनुप्राणित नहीं है, वह विधान सर्व हितकारी नहीं हो सकता। जो विधान सर्व हितैषी नहीं हो सकता, वह अनुसरणीय नहीं है।

(ग) इसलिए जिस महामानव में सर्वात्म–भाव की अभिव्यक्ति हो गई है, वही विधान का निर्माता हो सकता है।

अतः प्रस्तुत पुस्तक नीति सम्बन्धी आवश्यक अंगों पर प्रकाश डाल कर साधकों के व्यवहार को नीति–युक्त बनाने में समर्थ है।

माथेरान (बम्बई)

जून, सन् १९६०

विनीता :

देवकी

दर्शन और नीति

प्रथम प्रकरण

प्राकृतिक नियमानुसार अपने दायित्व को पूरा करने की स्वाधीनता मानवमात्र को प्राप्त है।

मिली हुई स्वाधीनता का सद्व्यय न करना मानव की अपनी भूल है। स्वाधीनता का दुरुपयोग वही करता है, जो अपने दायित्व को पूरा करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। यह मान्यता विवेक–विरोधी मान्यता है। विवेक का विरोध करने पर मानव में अमानवता की उत्पत्ति हो जाती है, जिसके होते ही जीवन में उत्तरोत्तर पराधीनता, जड़ता तथा अभाव की वृद्धि होती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

भूल को 'भूल' जान लेना भूल के नाश में हेतु है। जिस ज्ञान से भूल का ज्ञान होता है, वह ज्ञान नित्य प्राप्त है। उस नित्य प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में इन्द्रिय–दृष्टि तथा बुद्धि–दृष्टि कार्य करती हैं। ज्यों–ज्यों मानव इन्द्रिय–दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता जाता है, त्यों–त्यों भूल दृढ़ होती जाती है। इन्द्रिय–दृष्टि के उपयोग और प्रभाव में एक बड़ा भेद है। इन्द्रिय–दृष्टि का उपयोग वर्तमान आवश्यक कार्य की सिद्धि में सहायक है और उस दृष्टि का प्रभाव नवीन राग की उत्पत्ति में हेतु है। राग रूपी भूमि में ही विवेक–विरोधी कर्म का जन्म होता है। यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु स्वतः होती है। किन्तु जन्म का कारण रहते हुए नाश होने पर भी उसकी उत्पत्ति होती रहती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भूल का अन्त हुए बिना विवेक–विरोधी कर्म का सदा के लिए नाश नहीं हो सकता और उसका नाश हुए बिना जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। जो जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता, उसकी माँग जगत् को नहीं है। जिस व्यक्ति की माँग जगत् को नहीं होती, उसमें जगत् की दासता

उत्पन्न होती है। जगत् की दासता में आबद्ध प्राणी अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। यद्यपि कर्त्तव्य का ज्ञान बीज रूप से उसमें विद्यमान रहता है; किन्तु जगत् की दासता कर्त्तव्य के ज्ञान का आदर नहीं करने देती। ऐसी भयंकर परिस्थिति में मानव को विधान की अधीनता स्वीकार करना अनिवार्य है।

विधान आरम्भ में भले ही रुचिकर न प्रतीत हो; किन्तु ज्यों–ज्यों उसमें आस्था दृढ़ होती जाती है, त्यों–त्यों अकर्त्तव्य का नाश और कर्त्तव्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। कर्त्तव्यपरायणता और विधान, इन दोनों का स्वरूप एक है। इस दृष्टि से जीवन और विधान में भेद नहीं है। जब तक जीवन और विधान में भिन्नता प्रतीत होती हो, तब तक समझना चाहिए कि कर्त्तव्य के साथ–साथ अकर्त्तव्य भी है। अकर्त्तव्य का सर्वांश में अभाव होते ही कर्त्ता, कर्त्तव्य और विधान में एकता हो जाती है। उस विधान को क्रियात्मकरूप देने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार की नियमावली स्वभाव से ही मानव स्वीकार कर लेता है। बस, यही नीति है।

जो नीति जीवन और विधान की एकता में समर्थ नहीं है, वह नीति नहीं, अनीति है; उसका मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जो विधान निज–ज्ञान से प्रकाशित नहीं है, वह विधान, 'विधान' नहीं है, अपितु किसी आसक्ति का प्रभाव है। आसक्ति के रहते हुए विधान का बोध नहीं होता। इसी कारण वीतराग होने पर ही विधान से अभिन्नता प्राप्त होती है।

नीति का क्रियात्मकरूप न्याय है। न्याय निर्दोषता का प्रतीक है। निर्दोषता के बिना जीवन की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि दोष–युक्त जीवन की माँग न तो जगत् को है और न अपने को ही। कोई भी व्यक्ति सर्वांश में अपने को दोषी मानकर जीवित नहीं रहना चाहता और न कोई मानव सर्वांश में दोषी हो ही सकता है। यह नियम है कि निर्दोषता के आश्रय के बिना दोष रह नहीं पाता; कारण, कि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु गुणों के

अभिमान से ही दोष पोषित होते हैं। इस दृष्टि से निर्दोषता को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। अतः विधान–युक्त नीति का अपने पर शासन परम आवश्यक है। विधान से अनुशासित मानव को किसी अन्य शासन की अपेक्षा नहीं रहती।

अपने दोष का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही ज्ञान विधान का प्रतीक है। ज्ञान दोष का प्रकाशक है, नाशक नहीं। निर्दोषता की माँग दोष की नाशक है। निर्दोषता से निराश होना प्रमाद है। निर्दोषता की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना असावधानी है। दोष–जनित सुख का राग ही दोषों की भूमि है। निर्दोषता की उत्कट लालसा दोष–जनित सुख के राग को खा लेती है। यद्यपि दोष–जनित सुख का राग मिटते ही वर्तमान निर्दोष हो जाता है, तो भी भूतकाल के दोषों की स्मृति उत्पन्न होती है। उसी के आधार पर व्यक्ति अपने को दोषी मानता है। यदि भूतकाल के दोषों को न दोहराने का दृढ़ संकल्प कर लिया जाए, तो वर्तमान की निर्दोषता का अनुभव होने लगता है। दोष को न दोहराना ही वास्तविक सर्वोत्कृष्ट न्याय है। वह न्याय प्रत्येक मानव अपने प्रति स्वाधीनता तथा सुगमतापूर्वक कर सकता है। यह नियम है कि पुनरावृत्ति न होने से जिसका नाश हो जाता है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वही असत् है। असत् के संग से ही दोषों की उत्पत्ति होती है। इसी कारण असत् के त्यागमात्र से समस्त दोष सदा के लिए मिट जाते हैं। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर साधक निर्दोष होने से निराश नहीं होता। इतना ही नहीं, वह निर्दोषता को वर्तमान जीवन की वस्तु मानकर जाने हुए समस्त दोषों के परित्याग में समर्थ होता है।

न्याय की आवश्यकता निर्दोषता के लिए है, किसी के विनाश के लिए नहीं। न्याय के नाम पर किसी का विनाश करना, किसी को हानि पहुँचाना, दुःखी कर देना, पराधीन बना देना, असमर्थ बना देने का प्रयास करना और निन्दनीय मान लेना न्याय के रूप में घोर अन्याय है। इन दोषों से रहित न्याय किसी अन्य पर नहीं किया जा

सकता, अपितु अपने ही पर हो सकता है। अपने पर न्याय करने की पद्धति प्रचलित हो जाने पर राष्ट्र आदि के रूप में किसी अन्य न्यायाधीश की अपेक्षा नहीं रहती। अपने पर किसी अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता अपने प्रति न्याय न करने से होती है। कोई भी न्यायाधीश अन्य के प्रति यथेष्ट न्याय नहीं कर सकता, अर्थात् दोष के अनुरूप न्याय नहीं कर पाता। यही कारण है कि शासन–प्रणाली के द्वारा समाज में निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। कितने आश्चर्य की बात है कि जिसकी माँग सभी को है, वही जीवन में नहीं है! जिसको लाने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं; किन्तु सफलता नहीं होती। इस मौलिक समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक दोषी निर्दोष होने के लिए अपने द्वारा ही अपने प्रति न्याय कर सकता है।

अपने प्रति न्याय करने के लिए निज–विवेक के प्रकाश में अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट अध्ययन करना होगा। अर्थात् हम अपनी दृष्टि में अपने को कैसा पाते हैं, इस बात को स्पष्टतः जानना होगा। अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य न पाना अपने दोष को जानना है। मानव को अपने जिस दोष का ज्ञान हो जाता है, उस दोष के मिटाने की उत्कट लालसा जाग्रत होना अनिवार्य है, तभी न्याय–युक्त जीवन हो सकता है अथवा यों कहो कि भूतकाल के दोषों को जानकर निर्दोष होने के लिए ही अपने प्रति न्याय करने की बात आती है।

न्याय–प्रियता के उदित होते ही किए हुए दोष को दोहराने की तो बात ही नहीं रहती; दोष–जनित सुख का राग मिटाने के लिए अपने–आप दुःखी होने की बात शेष रहती है। वह दुःख कितना हो, इसका ठीक–ठीक निर्णय यही है कि दुःख इतना अवश्य हो, जिससे दोष–जनित सुख का राग सदा के लिए मिट जाए। यह नियम है कि जिसके होने से व्यक्ति दुःखी हो जाता है, उसका न होना और जिसके न होने से व्याकुल हो जाता है, उसका होना स्वाभाविक है। अतः दोष के उत्पन्न होने की व्यथा और

निर्दोषता–प्राप्ति की आकुलता मानव को निर्दोष बनाने में समर्थ है। किये हुए दोष के परिणाम में जब किसी अन्य के द्वारा न्याय किया जाता है, तब उतना ही दुःख नहीं दिया जाता, जितने से दोषी दोष–जनित सुख के राग से रहित हो जाए और उसके जीवन से दोष–युक्त प्रवृत्ति सदा के लिए मिट जाए। यह सभी को मान्य होगा कि दो व्यक्तियों की भी बनावट सर्वांश में एक नहीं है। इस कारण किसको कितने दण्ड से कितना दुःख होता है, इसका निर्णय कोई भी न्यायाधीश कर नहीं सकता। तो फिर किसी अन्य के द्वारा यथेष्ट न्याय सम्भव ही नहीं हो सकता और न्याय किये बिना निर्दोषता सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक मानव को अपने प्रति स्वयं न्याय करना होगा।

न्याय का अर्थ किसी का विनाश करना नहीं है, अपितु किए हुए अपराध की पुनः उत्पत्ति ही न हो, यही न्याय की सफलता है। यह सफलता तभी प्राप्त होगी, जब व्यक्ति अपने पर अपना शासन करे। अपने दोष का स्पष्ट ज्ञान उन्हीं को होता है, जो पर–दोष–दर्शन नहीं करते। इतना ही नहीं, यदि कोई स्वयं अपना दोष स्वीकार करे, तब भी वे यही कहते हैं कि "तुम वर्तमान में तो निर्दोष ही हो। यदि भूतकाल में कोई भूल हुई है, तो उसे अब मत करना।" भूतकाल के दोषों के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता में दोष का आरोप करना अपने प्रति अन्याय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भूतकाल की भूल का परिणाम परिस्थिति के रूप में अपने सामने नहीं आएगा, अवश्य आएगा। किन्तु भूतकाल के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता में दोष का आरोप करना दोष–युक्त प्रवृत्ति को जन्म देना है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही विज्ञानवेत्ता जानते हैं। सर्वांश में कोई भी व्यक्ति कभी भी दोषी नहीं होता। तो फिर अपने को अथवा दूसरे को दोषी मानना क्या प्रमाद नहीं है ? दोष की उत्पत्ति हुई, यह बात ठीक है; उसकी चिन्ता करना है, यह भी आवश्यक है। परन्तु आंशिक दोष के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सर्वांश में दोषी स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है। की हुई भूल की वेदना अनिवार्य है, न

दोहराने का दृढ़ संकल्प भी परम आवश्यक है। वर्तमान में अपने को अथवा दूसरे को निर्दोष स्वीकार करना भी युक्तियुक्त है। यही वास्तव में न्याय है। न्याययुक्त जीवन से समाज में अपने प्रति न्याय करने की सद्भावना स्वतः जाग्रत होती है, जिसके होते ही, दोष को 'दोष' जानकर, उसे त्याग करने का सद्भाव स्वतः अभिव्यक्त होता है। किसी भय से दोष का ऊपर से त्याग भले ही हो जाए; दोष–जनित सुख का राग नाश नहीं होता। उसी का परिणाम यह होता है कि किसी को भय देकर निर्दोष नहीं बनाया जा सकता; कारण, कि भय स्वयं ही एक बड़ा दोष है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार किये हुए का फल किसी के लिए अहितकर नहीं होता, अपितु दुःखद तथा सुखद होता है अथवा यों कहो कि व्यक्ति जो कुछ करता है, उससे सुख–दुःखयुक्त परिस्थिति उत्पन्न होती है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा अभावयुक्त है। जो अभावरहित तथा नित्य नहीं है, वह जीवन नहीं है। जो जीवन नहीं है, उससे न तो नित्य सम्बन्ध ही रह सकता है और न आत्मीयता ही हो सकती है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ ऊपरी भेद होने पर भी समान ही अर्थ रखती हैं। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व मानव पर है, उसके परिवर्तन की लालसा निरर्थक है। लालसा तो वही सार्थक है, जो परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश करा दे और जो नित्य प्राप्त में आत्मीयता प्रदान कर, प्रियता की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो। परिस्थितियों से अतीत की लालसा की पूर्ति निर्दोषता में निहित है। अतः निर्दोषता को सुरक्षित रखने का दायित्व मानवमात्र पर है। दायित्व की पूर्ति और लक्ष्य की प्राप्ति युगपद् है। अतः अपने प्रति न्याय करते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति, दायित्व की पूर्ति एवं लक्ष्य की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

—•—

द्वितीय प्रकरण

निज–विवेक सूर्य के समान और बल नेत्र के समान है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही नेत्र यथेष्ट कार्य करता है, उसी प्रकार निज–विवेक के प्रकाश में प्राप्त बल का सद्व्यय होता है। परन्तु जब व्यक्ति बल को विवेक की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने लगता है, तब बल का सदुपयोग नहीं हो पाता। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि संघर्ष का जन्म हो जाता है। जो बल परस्पर में एकता के लिए मिला था, वह बल एक दूसरे के विनाश का हेतु बन जाता है। यद्यपि किसी को अपना विनाश अभीष्ट नहीं है, परन्तु फिर भी विवेक के अनादर तथा बल के अभिमान में आबद्ध होकर व्यक्ति विवेक–विरोधी कर्म करने लगता है।

विवेक–विरोधी कर्म के कारण व्यक्ति कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है। कर्त्तव्य से विमुख होते ही जीवन में अधिकार–लालसा और दूसरों के कर्त्तव्य की स्मृति उत्पन्न होती है, अर्थात् जीवन में पराधीनता आ जाती है। पराधीनता के आते ही जड़ता तथा अभाव में आबद्ध हो जाना अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य की विस्मृति में ही समस्त संघर्ष निहित हैं।

मानव–जीवन में विवेक–विरोधी कर्म का कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि वह अपना जाना हुआ असत् है। अपने जाने हुए असत् के त्याग में ही अकर्त्तव्य का नाश है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य का नाश होते ही कर्त्तव्य–परायणता अपने–आप आ जाती है, जिसके आते ही संघर्ष सदा के लिए मिट जाते हैं और अनेक बाह्य भेद होने पर भी आन्तरिक एकता प्राप्त होती है। एकता में ही शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता निहित है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश को आन्तरिक एकता प्राप्त करना अनिवार्य है।

आन्तरिक एकता के बिना बाह्य एकता कुछ अर्थ नहीं रखती। यदि बाह्य एकता का कोई विशेष मूल्य होता, तो एक ही मत,

सम्प्रदाय और देश में परस्पर संघर्ष न होता। इतना ही नहीं, देखने में तो यहाँ तक आता है कि सहोदर भाई–बहिन, पति–पत्नी, पिता–पुत्र आदि में भी संघर्ष है। तो फिर किसी बाह्य एकता के आधार पर विश्व में संघर्ष नहीं होगा, ऐसी मान्यता केवल कल्पनामात्र प्रतीत होती है, वास्तविक नहीं।

संघर्ष का मूल आन्तरिक भिन्नता है, बाह्य नहीं। अब यह विचार करना होगा कि आन्तरिक भिन्नता क्या है ? तो कहना होगा कि बाह्य भेदों के आधार पर प्रीति का भेद स्वीकार करना। जब तक अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता को नहीं अपनाया जाएगा, तब तक आन्तरिक एकता सिद्ध न होगी और उसके बिना संघर्ष का अन्त सम्भव नहीं है।

प्रत्येक साधन–प्रणाली के मूल में दार्शनिक दृष्टिकोण होता है। प्रीति की एकता भी एक साधन–प्रणाली है। इसके मूल में दार्शनिक तत्त्व क्या है ? समस्त विश्व एक है। उसमें स्वरूप की भिन्नता नहीं है; कारण, कि सारी सृष्टि एक ही धातु से निर्मित है। परन्तु इन्द्रिय–ज्ञान से उस एकता में अनेक प्रकार की भिन्नता का दर्शन होता है। जिस प्रकार किसी भी जल–कण को सागर से भिन्न नहीं कर सकते, अर्थात् प्रत्येक जल–कण जल–रूप ही है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति को विश्व से विभक्त नहीं कर सकते। विश्व की दृष्टि से समस्त प्राणि–मात्र एक हैं। एक शरीर में भी प्रत्येक अवयव की आकृति तथा कर्म अलग–अलग हैं; किन्तु फिर भी शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रीति की एकता है। कर्म में भिन्नता होने से प्रीति का भेद नहीं होता। इसके मूल में कारण यही है कि समस्त शरीर एक है। इस बात में किसी का विरोध नहीं है। उसी प्रकार यदि विश्व की एकता में आस्था कर ली जाए, तो भाषा, मत, कर्म, विचार–धारा, पद्धति, आकृति, रहन–सहन आदि में भिन्न–भिन्न प्रकार का भेद होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रह सकती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार तो भिन्नता एकता–सम्पादन के लिए साधनरूप है, परन्तु व्यक्तित्व के मोह तथा अपनी–अपनी मान्यता की आसक्ति के कारण जो भिन्नता एकता–सम्पादन के लिए मिली थी, वह आज संघर्ष का कारण बन गई है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में मानव–समाज को इन्द्रिय–ज्ञान से प्रतीत होने वाली भिन्नता में एकता का दर्शन बुद्धि–दृष्टि से विवेक के प्रकाश में करना अनिवार्य है।

अनेकता में एकता का दर्शन करते ही उन सभी प्रवृत्तियों का स्वतः अन्त हो जाएगा, जिनसे निर्बलों के अधिकारों का अपहरण होता है। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने पर वह स्वतः होने लगता है, जो करना चाहिए। जिसके द्वारा किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता, उसके द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वतः होने लगती है। गतिशील जीवन में अवनति का निरोध होते ही उन्नति स्वतः होती है। उसी विकास का ह्रास होता है, जिसकी उत्पत्ति में किसी का विनाश निहित है।

किसी की अवनति के द्वारा प्राप्त की हुई उन्नति अवनति ही है। आरम्भ में भले ही ऐसा प्रतीत होता है कि किसी की हानि में किसी का लाभ है; पर परिणाम में तो यही सिद्ध होगा कि किसी की हानि से उत्पन्न हुआ लाभ एक बड़ी हानि की तैयारी है। इसी भूल से दो देशों में, दो वर्गों में, दो व्यक्तियों में, दो मतों, सम्प्रदायों एवं विचार–धाराओं में परस्पर संघर्ष होता रहता है। यद्यपि सभी की माँग उन्नति की है; किन्तु उन्नति के नाम पर प्रीति के स्थान पर संघर्ष को जन्म देते हैं। जिस बल का उपयोग निर्बलों के विनाश में किया जाता है, यदि उसी बल का उपयोग निर्बलों के विकास में किया जाए, तो क्या उन्नति न होगी ? अवश्य होगी। परन्तु बल के अभिमानी बल का सदुपयोग न करके उसका दुरुपयोग कर बैठते हैं।

बल का दुरुपयोग करते ही विरोधी शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपने को सबल मानता था,

वही निर्बल हो जाता है और फिर उसके प्रति वही होने लगता है, जो उसने अन्य के प्रति किया था। इस प्रकार परस्पर में उन्नति के नाम पर संघर्ष होते रहते हैं, जो वास्तव में अवनति के हेतु हैं।

जब समस्त विश्व एक दृश्य है, तो जिस ज्ञान से सृष्टि की प्रतीति होती है, वह ज्ञान भी एक है। यदि ऐसा न होता तो, न तो विश्व की एकता सिद्ध होती और न उसके द्रष्टा की; और न यह सिद्ध होता कि सर्व का ज्ञाता एक है। सर्व के ज्ञान ने अपने ज्ञाता को नहीं जाना, अपितु समस्त विश्व को अपने ही ज्ञान से प्रकाशित किया और अपने ही किसी एक अंश में समस्त सृष्टि को स्थान देकर भिन्न–भिन्न प्रकार की रचना की। रचना के आधार पर विज्ञान–वेत्ताओं ने सृष्टि के उपयोग की अनेक पद्धतियाँ निर्मित कीं और उनका आश्रय लेकर भिन्न–भिन्न प्रकार के भोगों का सम्पादन किया; किन्तु वे भोग के भयंकर परिणाम से अपने को न बचा सके। ज्यों–ज्यों भोग–सामग्री का सम्पादन करते रहे, त्यों–त्यों भोग की रुचि सबल तथा स्थाई होती रही और ज्यों–ज्यों भोग की रुचि सबल होती गई, त्यों–त्यों दीनता, अभिमान, पराधीनता आदि दुर्बलताएँ भी बढ़ती गईं। उन दुर्बलताओं की व्यथा से व्यथित होने पर अनन्त के मंगलमय विधान से जो प्रकाश मिला, उससे विश्व के प्रकाशक की ओर दृष्टि गई। उधर जाते ही वह प्रकाशक की प्रीति हो गई। उसी की अभिव्यक्ति जब बाह्य जीवन पर हुई, तब अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वतः परस्पर में रस प्रदान करने लगी, जिसको पाकर भोग की रुचि का नाश हो गया और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही न रही।

उस प्रीतम ने अपने को छिपाया; किन्तु अपने मंगलमय विधान से मानव को विवेक प्रदान किया, जिसके प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि तथा इन्द्रिय–दृष्टि कार्य करती हैं। निज–विवेक मंगलमय विधान का प्रतीक है। जो मानव मिले हुए बल का विवेक के प्रकाश में उपयोग करते हैं, उन्हें कर्त्तव्यपरायणता प्राप्त होती है और उनका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट

नीति वही है, जिससे व्यक्ति का जीवन समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो। जिसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, उसका जीवन अपने लिए तथा अनन्त के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है। जब तक मानव विश्व से प्राप्त वस्तु को व्यक्तिगत मानता है, तब तक उसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि प्राप्त वस्तुओं की ममता उसकी उदारता को आच्छादित कर, उस बेचारे को लोभ, मोह आदि विकारों में आबद्ध कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अप्राप्त वस्तुओं की कामनाओं में उलझ जाता है, जिससे प्रत्येक कार्य के अन्त में अपने आप आने वाली शान्ति भंग हो जाती है। शान्ति के भंग होने से आवश्यक सामर्थ्य का सम्पादन नहीं हो पाता, अर्थात् असमर्थता आ जाती है। जिसके आते ही जो करना चाहिए, वह कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए, उसे कर बैठता है; जिसमें प्रीति होनी चाहिए, उसमें प्रीति नहीं होती और जिसमें आसक्ति नहीं रहनी चाहिए, उसमें आसक्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, प्राकृतिक विधान के अनुसार जो स्वतः हो रहा है, उससे वह असहयोग नहीं कर पाता, जिसके किए बिना जो नित्य प्राप्त है, उसमें प्रीति नहीं होती। अथवा यों कहो कि उससे योग नहीं होता अथवा उसका बोध नहीं होता, जिससे सब कुछ प्रकाशित है।

जो हो रहा है, उसे कोई रोक नहीं पाता; उसके न होने की बात सोचता भले ही रहे। असहयोग के बिना अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय नाश नहीं होता और उसका बोध भी नहीं होता, जिसकी सत्ता से सब कुछ हो रहा है।

असहयोग का अर्थ द्वेष तथा घृणा नहीं है। जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं है, उससे विमुख होना ही असहयोग है। अपना प्रयोजन किससे नहीं है ? जिससे जीवन उपयोगी सिद्ध न हो। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसके सहयोग से जीवन उपयोगी सिद्ध नहीं होता। स्वतन्त्र अस्तित्व किसका नहीं है ? जो हो–होकर मिट रहा है। यही 'हो रहा है' का अर्थ है।

विश्व की वस्तु को व्यक्तिगत मान लेना विवेक–विरोधी मान्यता है। इस मान्यता से न तो अपना ही विकास होता है और न सुन्दर समाज का निर्माण ही। इस विवेक–विरोधी मान्यता का मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इस मान्यता का अन्त होते ही व्यक्ति समाज के अधिकार का पुंज रह जाता है और समाज व्यक्ति की सेवा का क्षेत्र बन जाता है। सेवा, व्यक्ति और समाज में वास्तविक एकता स्थापित करने में समर्थ है। सेवा का मूल मन्त्र है–उदारता, जो करुणा और प्रसन्नता के स्वरूप में प्रकट होकर व्यक्ति और समाज में अनुपम अभिन्नता उत्पन्न कर देती है। समाज उदार व्यक्तियों के बिना कभी अपने को सुन्दर नहीं पाता। सुन्दर समाज को राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती। मिले हुए बल के दुरुपयोग से ही राष्ट्र की आवश्यकता का अनुभव हुआ है। बल का दुरुपयोग विवेक के अनादर में निहित है। अतः विवेकपूर्वक बल का सदुपयोग करने मात्र से ही संघर्ष का अन्त हो सकता है। इस दृष्टि से बल की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। बल का उपयोग अपने अथवा दूसरों के संकल्प की पूर्ति में ही होता है। अपने संकल्प की पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देता है और दूसरों के संकल्प की पूर्ति 'करने के राग' की निवृत्ति में हेतु है। जिसे संकल्प–पूर्ति में जीवन–बुद्धि अनुभव नहीं होती, उसे किसी भी बल की अपेक्षा नहीं रहती। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह निर्बल हो जाता है, अपितु उसका प्रवेश बल से अतीत के जीवन में हो जाता है। बल का सदुपयोग एकमात्र निर्बलों की सेवा में ही है, भोग में नहीं।

सेवा भोग की रुचि को खा जाती है और सेवक के आवश्यक संकल्प उसके निर्विकल्प होने पर भी स्वतः पूरे हो जाते हैं; क्योंकि उसका अपना कोई संकल्प नहीं है। जिसका अपना कोई संकल्प है, वह सेवा नहीं कर सकता। यदि कोई यह कहे कि बल का उपयोग अपनी रक्षा में है। तो यह बात भी विवेक–विरोधी है; कारण, कि बल के द्वारा उससे अपनी रक्षा नहीं हो सकती, जिसमें समान बल है अथवा अधिक बल है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बल

की अपेक्षा न अपनी रक्षा में है और न अपने विकास में। बलपूर्वक किया हुआ भोग ह्रास का हेतु है, विकास का नहीं। बल का सदुपयोग एकमात्र निर्बलों की आदर पूर्वक सेवा में ही है और बल का सम्पादन भी बल के सदुपयोग में ही निहित है। बल का सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि मिला हुआ बल निर्बल की धरोहर मात्र है, अपना नहीं है; क्योंकि अपने लिए बल की अपेक्षा ही नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार बल का अत्यन्त अभाव किसी भी व्यक्ति के जीवन में नहीं है, अर्थात् कुछ–न–कुछ बल सभी को मिला है। यदि ऐसा न होता, तो जीवन में कुछ भी करने का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। जब मानव कुछ कर सकता है, तभी करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ है। मिले हुए बल का भोग में व्यय करने से बल का ह्रास और परिणाम में अभाव; सेवा में व्यय करने से आवश्यक बल की अभिव्यक्ति और परिणाम में चिर–विश्राम है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मिला हुआ बल सेवा के लिए है, अपने लिए नहीं। अपने लिए तो एकमात्र चिर–विश्राम ही अपेक्षित है। चिर–विश्राम के सम्पादन के लिए ही सब कुछ करने का प्रश्न है और यही अपने पर दायित्व है। विश्राम का अपहरण किसी अन्य के द्वारा नहीं होता, अपितु अपने ही प्रमाद से होता है। बेचारा बल का अभिमानी चिर–विश्राम नहीं पाता। चिर–विश्राम उसी को मिलता है, जिसके जीवन में प्राप्त बल का दुरुपयोग और अप्राप्त बल की कामना नहीं है।

आज मिले हुए बल के दुरुपयोग तथा अप्राप्त बल की कामना ने मानव को 'मानव' नहीं रहने दिया, अर्थात् उसे विद्यमान मानवता से विमुख कर दिया है। बल का दुरुपयोग रोकने के लिए राष्ट्र, मत, सम्प्रदाय आदि का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु अपने पर अपने विवेक का शासन न रहने से कोई भी पद्धति सर्वांश में सफल न हुई। ऐसी दशा में यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक मानव को निज–विवेक के प्रकाश में ही मिले हुए बल का सदुपयोग करना है, अर्थात् अपने

प्रति स्वयं को ही न्याय करना परम आवश्यक है। इसके बिना न तो बल का सदुपयोग ही हो सकता है और न वर्तमान निर्दोषता ही सुरक्षित रह सकती है। इतना ही नहीं, किए हुए बल के दुरुपयोग का प्रभाव भी नहीं मिट सकता, जिसके बिना मिटे व्यर्थ–चिन्तन का नाश नहीं होता, उसके हुए बिना निश्चिन्तता तथा निर्भयता की अभिव्यक्ति नहीं होती। निश्चिन्तता के बिना चिर–विश्राम कहाँ ? और चिर–विश्राम के बिना वास्तविक जीवन में प्रवेश ही नहीं हो सकता। निर्भयता के बिना कर्त्तव्य को 'कर्त्तव्य' जानकर उसका पालन और अकर्त्तव्य को 'अकर्त्तव्य' जानकर उसका त्याग नहीं हो पाता। किसी भय से बुराई न करने पर भी बुराई का नाश नहीं होता; क्योंकि बुराई–जनित सुख का राग अंकित रहता है। किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर किया हुआ कर्त्तव्य–कर्म चिर–विश्राम न देकर कर्त्तृत्व के अभिमान तथा फलासक्ति में ही आबद्ध करता है। अतः अकर्त्तव्य को 'अकर्त्तव्य' और कर्त्तव्य को 'कर्त्तव्य' जानकर ही मानव कर्त्तव्य–परायण होकर चिर–विश्राम पाता है।

चिर–विश्राम में ही मानव के उद्देश्य की पूर्ति निहित है; कारण, कि विश्राम प्राप्त होने पर वास्तविक जीवन से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मानव निज–विवेक के प्रकाश में ही मिले हुए बल का सदुपयोग करने की नीति को अपनाए। अतएव समस्त अभावों का अभाव एवं संघर्ष का अन्त करने के लिए बल की अपेक्षा विवेक को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है।

—•—

तृतीय प्रकरण

न्याय की सफलता निर्दोषता की अभिव्यक्ति में है और जिस पद्धति द्वारा ऐसे न्याय को चरितार्थ किया जाता है, वही सुन्दर नीति है। वह न्याय, न्याय ही नहीं है, जो अपराधी को निरपराध बनाने में समर्थ न हो। न्याय से किसी का ह्रास नहीं होता, अपितु

विकास ही होता है। न्याय भिन्नता को अभिन्नता में परिवर्तित कर पूर्ण होता है, अर्थात् न्याय दो को एक करता है, तभी न्याययुक्त जीवन से शान्ति की स्थापना होती है। इस दृष्टि से न्याय मानव–जीवन का मुख्य अंग है।

न्याययुक्त प्राणियों से किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता; क्योंकि न्याय कर्त्तव्य की प्रेरणा देता है। कर्त्तव्य का फल विद्यमान राग की निवृत्ति है, किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नहीं। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी के जीवन में कर्त्तव्य का ही महत्त्व है। यह नियम है कि विद्यमान राग–निवृत्ति के बिना न्याय को प्रेम में परिणत करने की सामर्थ्य ही नहीं आती। जो न्याय प्रेम में विलीन नहीं होता, वह भेद का अन्त करने में समर्थ नहीं है। भेद का अन्त हुए बिना न तो संघर्ष का ही नाश होता है और न शान्ति की स्थापना ही होती है। शान्ति के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है और सामर्थ्य के बिना स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रहती, जो सभी को अभीष्ट है।

पारस्परिक भिन्नता ही परस्पर में वैमनस्य और संघर्ष को जन्म देती है। भिन्नता का एकमात्र कारण अपने अधिकार और दूसरे के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखना है। यद्यपि किसी का अधिकार ही किसी का कर्त्तव्य है, परन्तु अपने अधिकार को सुरक्षित रखने में स्वाधीनता नहीं है, अपितु स्वाधीनता है दूसरों का अधिकार सुरक्षित रखने में। स्वाधीनता–सम्पादन का साधन भी स्वाधीन है। इस कारण अपने अधिकार पर दृष्टि रखना भूल है। वास्तव में तो अधिकार कर्त्तव्य का दास है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी की दृष्टि अपने अधिकार पर नहीं रहती, अपितु दूसरों के अधिकार पर रहती है। अधिकार की स्मृति कर्त्तव्य की विस्मृति में हेतु है। कर्त्तव्य की विस्मृति ही अकर्त्तव्य को जन्म देती है, जिसका मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अधिकार की पूर्ति में नवीन राग और अपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध की उत्पत्ति होती है, जिसके उत्पन्न होते ही उद्देश्य की विस्मृति अपने आप हो जाती है। उद्देश्य को भूलते ही कर्त्तव्य का ज्ञान आच्छादित हो जाता है। इस दृष्टि से अधिकार–

लालसा ह्रास का मूल है।

अधिकार–लालसा का अन्त होते ही राग तथा क्रोध का नाश हो जाता है। क्रोध–रहित होते ही क्षमाशीलता, उदारता, स्नेह, निर्वैरता आदि दिव्य–गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है और राग–रहित होते ही स्वाधीनता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय अपने आप मिट जाता है और पक्षपात की गन्ध भी नहीं रहती। उसके न रहने से वाणी में सत्यता आ जाती है। उसका निर्णय सभी के लिए सदा हितकर सिद्ध होता है, जो वास्तविक न्याय है। अधिकार–लालसा में आबद्ध प्राणी कभी न्यायाधीश नहीं हो सकता। यही कारण है कि परस्पर समझौता होने पर भी एकता नहीं होती। संघर्ष कुछ काल के लिए दब भले ही जाए, उसका नाश नहीं होता। दबा हुआ संघर्ष अनेक रूप धारण कर प्रकट होता रहता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष का मूल तथा बीज बने रहने पर वृक्ष बार–बार उगता ही रहता है, उसी प्रकार अधिकार–लालसा रहते हुए संघर्ष की उत्पत्ति होती ही रहती है।

अधिकार–लालसा का नाश होने पर अपना अस्तित्व ही न रहेगा, उद्देश्य की पूर्ति ही न होगी, निर्वाह होना भी दुर्लभ हो जाएगा, अथवा निर्वाह नहीं होगा–ये सभी बातें निर्मूल हैं। अधिकार का त्याग असंगता और अभिन्नता प्रदान करता है। असंगता दिव्य–जीवन से और अभिन्नता परम प्रेम से अभिन्न कर देती है, जो मानवमात्र की माँग है। इतना ही नहीं, अधिकार का त्याग विपक्षी में कर्त्तव्य की भावना जाग्रत करता है। यह नियम है कि भाव–शुद्धि में ही कर्म की शुद्धि निहित है। कर्म सीमित और भाव असीम है। भाव के अनुरूप कर्म भाव में संजीवता लाता है और शुद्ध भावना कर्म को शुद्ध बनाती है। अधिकार के त्याग से ही परस्पर एकता और समाज में कर्त्तव्यपरायणता का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से अधिकार–त्याग ही सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

अधिकार–लालसा से रहित प्राणी को किसी भी परिस्थिति में किसी से भी भय नहीं होता और न उससे किसी को भय होता है। भय का आदान–प्रदान अधिकार–लोलुप प्राणियों में ही होता है। भय–युक्त जीवन किसी को प्रिय नहीं है। प्राकृतिक विधान के अनुसार अधिकार–रहित प्राणियों की रक्षा स्वतः होती है और अधिकार–अपहरण करने वालों का नाश अवश्यम्भावी है। इस मंगलमय विधान का आदर करने पर दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग की अभिरुचि स्वतः जाग्रत होती है, जो विकास का मूल है। इस दृष्टि से अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य को ही महत्त्व देना है अथवा यों कहो कि कर्त्तव्य में ही अपना अधिकार है। अधिकार–लालसा से युक्त कर्त्तव्य केवल व्यापार मात्र है अथवा यों कहो कि पशुता है। अधिकार–शून्य कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य है। जो मानव अधिकार त्याग कर कर्त्तव्य का पालन करते हैं, वे न्याय को प्रेम में विलीन कर सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

—•—

चतुर्थ प्रकरण

अपने को अथवा दूसरों को बुरा समझने का एकमात्र कारण भूतकाल की घटनाओं के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को आच्छादित कर देना है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में कभी भी बुरा नहीं होता और न सभी के लिए बुरा होता है। बुराई उत्पत्ति–विनाश–युक्त है, नित्य नहीं। जो नित्य नहीं है, उससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में अपने को अथवा दूसरों को सदा के लिए बुरा मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वर्तमान सभी का निर्दोष है, यह सभी का अनुभव है। जब हम अपने किसी भी दोष की चर्चा करते हैं, तब यह मानना ही पड़ता है कि वह दोष भूतकाल का है। वर्तमान में तो किए हुए दोष की स्मृति

है, दोष–युक्त प्रवृत्ति नहीं। किसी प्रवृत्ति की स्मृति किसी का स्वरूप नहीं है। जो स्वरूप नहीं है, उसको अभेद भाव से अपने अथवा दूसरों में आरोप करना, क्या न्याययुक्त निर्णय है ? कदापि नहीं। अतः अपने को अथवा दूसरों को वर्तमान में बुरा समझना विवेक–विरोधी निर्णय है। इस निर्णय से अपने में अपराधी–भाव दृढ़ होता है और दूसरों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। अपराधी–भाव आरोपित कर, कोई भी निरपराध नहीं हो सकता; क्योंकि जैसा अहम् भाव होता है, वैसी ही प्रवृत्ति होती है। अहम् प्रवृत्ति का मूल है अथवा यों कहो कि कर्त्ता ही कर्म के रूप में व्यक्त होता है। इस दृष्टि से अशुद्ध कर्त्ता से शुद्ध कर्म की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। शुद्ध कर्म शुद्ध कर्त्ता से ही होता है। कर्म की शुद्धि तभी हो सकती है, जब कर्त्ता शुद्ध हो जाए। अतः कर्म की शुद्धि के लिए कर्त्ता में शुद्धता की प्रतिष्ठा करना अनिवार्य है, जो वास्तव में विवेक–सिद्ध है।

दूसरों के प्रति उत्पन्न हुई घृणा समीपता में भी दूरी उत्पन्न कर देती है, अर्थात् बाह्य दृष्टि से दो व्यक्ति, दो वर्ग, दो देश समीप रहते हुए भी, आन्तरिक दृष्टि से एक दूसरों से दूर होते जाते हैं। इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। परस्पर वैर–भाव की बड़ी ही गहरी खाई बन जाती है। वैर–भाव अपने और दूसरे के विनाश में हेतु है और समस्त संघर्षों का मूल है। वैर–भाव व्यक्ति के मस्तिष्क को इतना अस्वस्थ कर देता है कि वह वस्तुस्थिति का यथेष्ट परिचय नहीं कर पाता। उसे विपक्षी में दोष ही दोष प्रतीत होने लगते हैं। यह द्वेष की महिमा है कि गुण का दर्शन नहीं होने देता। यह नियम है कि किसी का द्वेष किसी का राग बन जाता है। जिस प्रकार द्वेष गुण का दर्शन नहीं होने देता, उसी प्रकार राग दोष का दर्शन नहीं होने देता। वैर–भाव अपना दोष और विपक्षी का गुण देखने नहीं देता।

अपने दोष को जाने बिना उसका त्याग नहीं होता और दूसरे के गुण को जाने बिना उससे एकता नहीं हो सकती। इस कारण वैर–भाव कभी भी न तो परस्पर एकता ही होने देता है और न

संघर्ष का नाश ही। वैर–भाव के समान और कोई अपना वैरी नहीं है, जिसकी उत्पत्ति दूसरों को बुरा समझने से होती है। अतः किसी को बुरा समझना अपना बुरा करना है। यदि मानव निर्दोष होना चाहता है, तो उसे अपने को और दूसरों को वर्तमान में निर्दोष मानना ही पड़ेगा; क्योंकि यह विवेक–सिद्ध है।

भूतकाल के दोषों की स्मृति ने ही वर्तमान की निर्दोषता को ढक दिया है। यदि भूतकाल की स्मृति के आधार पर किए हुए दोष को न दोहराने का महाव्रत ले लिया जाए, तो स्मृति से असहयोग करने की सामर्थ्य आ जाती है और अपने में से अपराधी–भाव का विनाश हो जाता है, जिसके होते ही वर्तमान की निर्दोषता का स्पष्ट बोध हो जाता है और फिर उसका प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि पर स्वतः होने लगता है। इतना ही नहीं, उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति निर्दोषता से युक्त होने लगती है, जिससे समाज में निर्दोषता विभु हो जाती है। उसके न चाहने पर भी उसे आदर तथा प्यार मिलने लगता है; क्योंकि निर्दोषता की माँग मानवमात्र को है। उसका जीवन दोष–युक्त प्राणियों को निर्दोष बनाने में पथ–प्रदर्शन करता है।

अपनी निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों को दोषी न मानना अनिवार्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी को बुरा समझना सबसे बड़ी बुराई है; क्योंकि किसी को बुरा समझने का परिणाम उसकी वर्तमान निर्दोषता में बुराई की दृढ़ स्थापना करना है। किसी को बुरा मानना बुराई को व्यापक कर देना है। की हुई बुराई सीमित है, असीम नहीं। किन्तु किसी को बुरा मानकर तो बुराई की उत्तरोत्तर वृद्धि ही करना है। किसी का बुरा चाहना बुराई करने की अपेक्षा कहीं अधिक बुराई है, और किसी को बुरा समझना बुरा चाहने की अपेक्षा भी कहीं अधिक बुराई है। इस कारण किसी को बुरा समझने के समान और कोई बुराई हो ही नहीं सकती। जो किसी को बुरा समझता है, उसके जीवन में से अशुद्ध संकल्पों का नाश ही नहीं होता। अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति अशुद्ध कर्म को

जन्म देती है। अतः दूसरे को बुरा समझकर कोई भी व्यक्ति अशुद्ध कर्म से बच नहीं सकता। इस दृष्टि से दूसरों को बुरा समझना अपने को बुरा बनाने में मुख्य हेतु है। किसी को बुरा समझने का किसी भी मानव को कोई अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं, यहाँ तक कि कोई स्वयं ही अपनी बुराई स्वीकार करे, तब भी उससे उसकी वर्तमान निर्दोषता की चर्चा करते हुए उसे यह विश्वास दिलाना चाहिए कि वर्तमान सभी का निर्दोष है। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए किये हुए दोषों का त्याग अनिवार्य है।

जब मानव अपनी और दूसरों की वर्तमान निर्दोषता को स्वीकार कर लेता है, तब उसे भूतकाल में किये हुए दोषों को त्याग करने में बड़ी ही सुगमता हो जाती है। यह नियम है कि जिसमें से अपराधी भाव का अन्त हो जाता है, उसमें निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः होने लगती है। अर्थात् निर्दोषता का प्रभाव उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होने लगता है और फिर उसके दैनिक जीवन से समाज में निर्दोषता फैलने लगती है। निर्दोषता की स्वीकृति में ही निर्दोषता की व्यापकता विद्यमान है। इस रहस्य को जान लेने पर मानवमात्र बड़ी ही सुगमता पूर्वक निर्दोषता से अभिन्न हो सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने को निर्दोष मानने से तो मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होगी, जो स्वयं बहुत बड़ा दोष है। पर बात ऐसी नहीं है। अभिमान की उत्पत्ति तो तब होगी, जब अपने को निर्दोष और दूसरों को दोषी मानें। जिसने सभी की निर्दोषता स्वीकार की है, उसमें समता की अभिव्यक्ति होगी, अभिमान की नहीं। समता योग है, अभिमान भोग है। यह सभी को मान्य होगा कि भोग की सिद्धि विषमता में है, समता में नहीं। अपने को दोषी और दूसरों को निर्दोष तथा दूसरों को दोषी और अपने को निर्दोष मानना विषमता है। विषमता का नाश सभी में निर्दोषता की स्थापना करते ही स्वतः हो जाता है। विषमता के नष्ट होते ही भोग 'योग' में विलीन हो जाता है। योग सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य के आते ही जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो

करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है अथवा यों कहो कि दोष की उत्पत्ति ही नहीं होती और निर्दोषता जीवन में ओत–प्रोत होकर अपने आपको स्वयं प्रकाशित करने लगती है। निर्दोषता की माँग जीवन की माँग है। इस माँग को किसी भी प्रकार मिटाया नहीं जा सकता। जिसको मिटाया नहीं जा सकता, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। भूतकाल के किए हुए दोषों के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को अस्वीकार करना दोषों को जन्म देना है और वर्तमान की निर्दोषता को स्वीकार करना दोषों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देना है।

वर्तमान की निर्दोषता को स्वीकार किए बिना किसी के जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यह सभी का अनुभव है कि सर्वांश में तो कोई अपने को दोषी मानता ही नहीं। गुण और दोष–युक्त स्वीकृति सभी में स्वभाव से ही होती है। दोष की स्वीकृति भूतकाल की घटनाओं के आधार पर और गुणों की स्वीकृति स्वभाव–सिद्ध होती है। यदि मानव अपने में से किए हुए दोषों के त्याग का महाव्रत लेकर केवल स्वभाव–सिद्ध निर्दोषता को स्वीकार करे, तो गुण–दोष–युक्त द्वन्द्वात्मक स्थिति का नाश हो जाता है, जिसके होते ही अहम्–भाव रूपी अणु सदा के लिए मिट जाता है और फिर एकमात्र निर्दोषता ही निर्दोषता रह जाती है, जो पहले भी थी, अब भी है और सदैव रहेगी ही।

जो नष्ट होती है, वह निर्दोषता नहीं है। जो सदैव रहती है, वही निर्दोषता है। दोषों की उत्पत्ति होती है। निर्दोषता अनुत्पन्न है। देहाभिमान के कारण अनुत्पन्न निर्दोषता पर व्यक्ति दोषों का आरोप कर बैठता है। देहाभिमान अविवेक–सिद्ध है, वास्तविक नहीं। निर्दोषता की माँग कामनाओं को खाकर स्वतः देहाभिमान को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से निर्दोषता की माँग में ही निर्दोषता की प्राप्ति निहित है।

देहाभिमान के कारण किए हुए दोषों के आधार पर नित्य–प्राप्त निर्दोषता से दूरी तथा भेद स्वीकार कर, बेचारा व्यक्ति अपने को

दोषी मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि निर्दोष काल में भी भूतकाल के दोषों की स्मृति से भयभीत होकर अपने को दोषी मान लेता है और निर्दोष होने की लालसा को पूरा करने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के प्रयास करता है। किन्तु अपने को दोषी मानने के कारण उसके प्रयास निष्फल होते हैं। अपने को दोषी मान लेने पर दोषयुक्त प्रवृत्ति में स्वाभाविकता और निर्दोषता में अस्वाभाविकता मानने लगता है। परन्तु जब निज–विवेक के प्रकाश में वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है, तब उसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि जिन दोषों की स्मृति आ रही है, वे भूतकाल में किए थे।

यह सभी का अनुभव है कि अपराध करने पर जब उसे भय होता है, तब उसमें स्वभाव से ही यह संकल्प उत्पन्न होता है कि 'अब मैं भूल नहीं करूँगा'। इस स्वाभाविक प्रेरणा से यह सिद्ध हो जाता है कि अपराध करने से पूर्व व्यक्ति निरपराध था और अब भी निरपराध रहना चाहता है। आदि और अन्त में निर्दोषता ही निर्दोषता है। मध्य में उत्पन्न किये दोषों के आधार पर आदि और अन्त में सदैव रहने वाली निर्दोषता मिट नहीं सकती। यदि किसी प्रकार निर्दोषता मिट जाती, तो जीवन में उसकी माँग ही न होती। किन्तु निर्दोषता की माँग मानव–मात्र के जीवन में रहती है।

अब यदि कोई यह कहे कि निर्दोषता तो थी ही, तो फिर दोषों की उत्पत्ति ही क्यों हुई ? इस समस्या पर विचार करने से ऐसा विदित होता है कि समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास को अपनाना है, जो वास्तव में जाने हुए असत् का संग है। असत् के संग से ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है; किन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार अकर्त्तव्य के अन्त में स्वभाव से ही कर्त्तव्य की माँग जाग्रत होती है। इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि व्यक्ति ने जाने हुए असत् को अपनाकर अकर्त्तव्य को जन्म दिया है। यदि जाने हुए असत् का त्याग कर दिया जाय, तो सदा के लिए अकर्त्तव्य का नाश अपने आप हो जाता है। अकर्त्तव्य

का नाश हो जाने पर ही उसके कारण का यथेष्ट ज्ञान होता है। अकर्त्तव्य के रहते हुए उसके कारण का ज्ञान सम्भव नहीं है।

जाने हुए असत् का त्याग करने पर सत् का संग स्वतः हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता समस्त दोषों को खाकर स्वयं प्रकट होती है। इस दृष्टि से असत् के त्याग और सत् के संग में ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति निहित है। अभिव्यक्ति उसी की होती है, जो स्वरूप से सर्वदा विद्यमान है और निवृत्ति उसकी होती है, जिसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यदि दोषों का स्वतंत्र अस्तित्व होता, तो वे कभी नष्ट नहीं होते और निर्दोषता का यदि स्वतंत्र अस्तित्व न होता, तो उसकी माँग ही न होती। दोषों को मिटाने की और निर्दोषता को सुरक्षित रखने की आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि जब असत् के संग से ही दोषों की उत्पत्ति होती है, तो असत् के संग का कारण क्या है ? तो यह कहना पड़ेगा कि जिसका कोई और कारण हो, उसे कारण नहीं कहते। कारण कहते ही उसे हैं, जिसका कोई कारण न हो। कारण के नाश होने पर यदि उसके कार्य का नाश न हो, तब किसी अन्य कारण की खोज का प्रश्न होता है। किन्तु जब कारण के नाश होते ही कार्य का नाश हो जाए, तब किसी अन्य कारण की खोज करना क्या स्वयं दोष नहीं है ? जाने हुए असत् का त्याग करने पर यदि निर्दोषता की अभिव्यक्ति न होती, तब तो यह प्रश्न बन सकता था कि असत् के संग का कारण क्या है ?

यह सभी को मान्य होगा कि असत् के संग से तो समस्त विकार उत्पन्न होते हैं। ऐसा कोई विकार है ही नहीं कि जिसके मूल में असत् का संग न हो। असत् को 'असत्' जानना ही उसके नाश का साधन है। जिस ज्ञान से असत् का ज्ञान होता है, वह ज्ञान असत् का कारण नहीं हो सकता। असत् का कारण भी असत् ही है, कोई अन्य नहीं। यदि असत् का कारण कोई नित्य है, तो असत् का

नाश ही सम्भव न होगा। तो फिर जाने हुए असत् के त्याग और सत् के संग की सिद्धि ही न होगी और उसके सिद्ध हुए बिना समस्त दोषों का अन्त न होगा। दोषों के नष्ट हुए बिना निर्दोषता की माँग पूरी नहीं होगी। इस दृष्टि से असत् के संग के कारण की खोज सर्वथा निर्मूल है अथवा यों कहो कि असत् के संग के कारण की खोज करना ही असत् है।

जब यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि जाने हुए असत् के त्याग में ही सफलता निहित है, तब भूतकाल की घटनाओं के आधार पर किसी को वर्तमान में दोषी मानना असत् का संग करना है, जो असिद्धि में हेतु है। जब मानव सभी को वर्तमान में निर्दोष मान लेता है, तब उसमें दोष की स्वीकृति ही नहीं रह जाती, जिसके न रहने से द्वेष का सर्वदा के लिए नाश हो जाता है, जिसके होते ही स्वभाव से ही एकता आती है। एकता आ जाने पर निर्वैरता स्वाभाविक है। वैर–भाव का अन्त होते ही हिंसा उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसात्मक भाव से होने लगती है अथवा यों कहो कि जीवन अहिंसा से परिपूर्ण हो जाता है। उसके द्वारा किसी का ह्रास नहीं होता, अपितु सभी का विकास होता है। क्षमाशीलता तो स्वभाव से ही आ जाती है। जो किसी को अपराधी नहीं मानता है, उसमें सबकी आत्मीयता हो जाती है। उसके प्रेम को पाकर अपराधी, अपराध से रहित हो जाता है। इस प्रकार उसके पवित्र जीवन से सुन्दर समाज का निर्माण तथा अनेक भेद होने पर भी परस्पर में स्नेह की एकता स्वतः फैलती है, जो समस्त संघर्षों का अन्त करने में समर्थ है।

समस्त संघर्षों का मूल एकमात्र यह है कि व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश अपने दोष को भूल कर दूसरे के दोष पर दृष्टि रखते हैं। उसकी प्रतिक्रिया यह होती है कि विपक्षी में भी दोष देखने की दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। दोनों ही पक्ष अपना–अपना दोष देखना भूल जाते हैं और सारी योग्यता विपक्षी के दोष देखने में लग जाती है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि अपने–अपने विपक्षी को

दोषी मानकर उसे नष्ट–भ्रष्ट करने के लिए अथवा उसे निर्बल बनाकर अपने अधीन करने के लिए अनेकों प्रकार के दोष स्वयं करने लगते हैं। इस प्रकार दोषों का आदान–प्रदान इतना बढ़ जाता है कि अपने–अपने कर्त्तव्य की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति अकर्त्तव्य को जन्म देती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार अकर्त्तव्य अपना तथा दूसरों का विनाश ही करता है। अकर्त्तव्य में किसी का हित नहीं है, अपितु सबका अहित है। अकर्त्तव्य के आधार पर किया हुआ बाह्य विकास भयंकर ह्रास का जन्मदाता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जो निर्दोषता के पुजारी हैं।

यदि मानव–समाज संघर्ष का अन्त करना चाहता है, तो उसे विवश होकर सभी का वर्तमान निर्दोष स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसके बिना जीवन में से प्रतिहिंसा का भाव नष्ट नहीं होगा। उसके नष्ट हुए बिना शान्ति का सम्पादन नहीं होगा। शान्ति के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति न होगी और उसके बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश न होगा। स्वाधीनता के बिना प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही उत्कृष्ट परिस्थिति तथा परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश निहित है। इस कारण प्रतिहिंसा का अन्त करना अनिवार्य है।

यदि व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश अपने–अपने दोष को जानने का प्रयास करें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखते हुए परस्पर में स्नेह का आदान–प्रदान हो सकता है। स्नेह वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो बल का दुरुपयोग नहीं करने देता है। बल का दुरुपयोग न करने पर किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता। इतना ही नहीं, स्नेहयुक्त जीवन में अपने अधिकार की गन्ध भी नहीं रहती। जब दूसरों के अधिकार सुरक्षित होते हैं और अपने में अधिकार–लालसा नहीं रहती, तब जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अपने आप हो जाती है, अर्थात् सुन्दर समाज का निर्माण तथा अपना कल्याण हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

उद्देश्य–पूर्ति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वर्तमान की निर्दोषता पर सदैव आस्था रखी जाए और बड़ी ही सावधानी पूर्वक भूतकाल के दोष का त्याग भी कर दिया जाए। दोष–जनित सुखभोग की रुचि का अन्त करना ही दोष का त्याग है। सुख–भोग की रुचि ही मानो समस्त दोषों का मूल है। भोग्य वस्तुओं का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास होने पर भी यदि भोग की रुचि का नाश नहीं होता, तो इससे बढ़कर कोई और असावधानी नहीं हो सकती।

प्राकृतिक नियम के अनुसार असावधानी ही व्यक्ति को मृत्यु की ओर ले जाती है और सावधानी ही अमरत्व से अभिन्न करती है। इस कारण असावधानी का मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। ज्यों–ज्यों जीवन में अपने जाने हुए का प्रभाव होता जाता है, त्यों–त्यों असावधानी स्वयं मिटती जाती है। असावधानी का अन्त होते ही जीवन में स्वतः सजगता आ जाती है, जिसके आते ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए और आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। ऐसे अनुपम जीवन का निर्माण जिस विधान से हुआ है अथवा जिसने किया है, वह न जाने कितना सुन्दर है ! अनन्त सौन्दर्य की माँग जीवन की माँग है। उससे निराश होना, उसमें अविचल आस्था न रखना ही अपनी भूल है। अपनी भूल मिटाने का दायित्व अपने पर ही है। अब यदि कोई यह कहे कि अपनी भूल मिटाने का साधन क्या है ? तो यह कहना पड़ेगा कि निज–ज्ञान के प्रकाश में भूल को 'भूल' जान लेना ही भूल मिटाने का सुगम, सहज तथा अनुपम उपाय है।

भूल से उत्पन्न हुई असावधानी और असावधानी से उत्पन्न एवं पोषित दोषों को मिटाने में अपने को असमर्थ स्वीकार करना और नित्य प्राप्त, स्वतः सिद्ध निर्दोषता से निराश होना मानव–जीवन का घोर अनादर है। मानव अपने जीवन का अनादर आप करता है। यह नियम है कि जो अपना आदर नहीं करता, उसका कोई आदर नहीं करता। अपने आदर का अर्थ दूसरों का अनादर नहीं है, अपितु

दूसरों के अनादर से तो अपना ही अनादर होने लगता है; क्योंकि जो किसी को भी दोषी मानता है, वह स्वयं निर्दोष नहीं हो सकता। अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए सभी में निर्दोषता का दर्शन करना होगा। सर्वत्र, सर्वदा सभी में निर्दोषता का दर्शन अपनी निर्दोषता को सबल तथा स्थाई बनाने का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

दोष अनेक नहीं हैं, एक ही है; किन्तु परिस्थिति–भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि वह कौन सा मूल दोष है, जो भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। सुख का प्रलोभन तथा दुःख का भय ही मूल दोष है। सुख के न रहने पर भी सुख का प्रलोभन रह जाता है और दुःख से पूर्व ही दुःख का भय आक्रमण करने लगता है। जो हमारे बिना रह सकता है, क्या हम उसके बिना नहीं रह सकते ? अवश्य रह सकते हैं। परन्तु सुख–लोलुपता हमें असमर्थ बना देती है। दुःख के भय से सुख–लोलुपता पुष्ट होती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुख–लोलुपता का नाश करने के लिए ही दुःख आता है। दुःख का आज तक किसी ने आह्वान नहीं किया। उसका न आना ही सभी को अभीष्ट है; किन्तु फिर भी दुःख क्यों आता है ? इस पर मानव विशेष ध्यान नहीं देता, अपितु दुःख से भयभीत हो जाता है। जो अपने आप आया है, वह मंगलमय विधान से आया है। विधान किसी के लिए भी अहितकर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर होता है। परन्तु यह बात वे ही जान पाते हैं, जो अपनी रुचि के विरुद्ध होने पर भी विधान का आदर करते हैं।

मंगलमय विधान से आए हुए दुःख का पूरा प्रभाव हो जाने पर सुख का प्रलोभन स्वतः नष्ट हो जाता है, जिसका नाश होते ही किसी भी दोष की उत्पत्ति नहीं होती। सुख के प्रलोभन में आबद्ध व्यक्ति, वर्ग तथा देश दूसरों के प्रति वह कर बैठते हैं, जो नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए, वही दोष है। इस दृष्टि से सुख के प्रलोभन के नष्ट होने में ही समस्त दोषों का नाश निहित है।

सुख का प्रलोभन अविवेक से उत्पन्न होकर दुःख के भय से पोषित होता है। दुःख के प्रभाव से विवेक की जागृति होती है और उसके होने से अविवेक नष्ट हो जाता है। अतएव मंगलमय विधान से आये हुए दुःख का प्रभाव सुख के प्रलोभनों को खाकर स्वतः सदा के लिए मिट जाता है। इस दृष्टि से मानव–जीवन में दुःख के भय से भयभीत होने का कोई स्थान ही नहीं है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है। दुःख से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि आए हुए सुख का भोग न किया जाए, अपितु उसका सदुपयोग किया जाए और आए हुए दुःख से भयभीत न होकर उसका पूरा–पूरा प्रभाव होने दिया जाए। सुख का सदुपयोग करने पर और दुःख का पूरा–पूरा प्रभाव होने पर अपने आप सुख के प्रलोभन का नाश हो जाता है, जिसके होते ही भूतकाल के दोषों को न दोहराना अत्यन्त सुगम हो जाता है और फिर वर्तमान की निर्दोषता स्वतः सुरक्षित हो जाती है।

भूतकाल की सुखद तथा दुःखद घटनाओं का प्रभाव किस में अंकित है ? इस समस्या पर विचार करने से यह विदित होता है कि जो सुख–दुःख का भोगी है, उसी में करने वाली तथा होने वाली घटनाओं का प्रभाव अंकित होता है, जो स्मृति के रूप में प्रकट होकर वर्तमान की निर्दोषता, शान्ति एवं सरसता को आच्छादित कर देता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सुख तथा दुःख का भोगी कौन है ? जो सुख का भोगी है, उसी को दुःख भोगना पड़ता है। सुख के भोगी की खोज करने से यही पता चलता है कि जो पराधीनता में जीवन–बुद्धि स्वीकार करता है, वही सुख का भोगी है। यद्यपि पराधीनता किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है और न उसकी माँग ही है, परन्तु देहाभिमान में आबद्ध प्राणी पराधीनता में ही जीवन–बुद्धि स्वीकार कर लेता है, जो अविवेक सिद्ध है। अविवेक निज–विवेक के आदर से मिट सकता है। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक

का अनादर ही समस्त विकारों का मूल है। विवेक का आदर किए बिना न तो प्राकृतिक विधान का आदर हो सकता है और न देहाभिमान ही गल सकता है। प्राकृतिक विधान का आदर बिना किए इस सत्य पर आस्था नहीं होती कि जो हो रहा है, उसमें सभी का हित निहित है और उसके हुए बिना प्राप्त परिस्थिति का आदर तथा उत्साहपूर्वक सदुपयोग नहीं हो पाता, जिससे न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है, न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है। नीति वही सार्थक सिद्ध होती है, जो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कराने में समर्थ हो। ऐसा कोई कर्त्तव्य हो ही नहीं सकता, जिसका सम्बन्ध अप्राप्त परिस्थिति से हो। जिस किसी को जो कुछ करना है, वह प्राप्त परिस्थिति में ही हो सकता है।

भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूलना अनिवार्य है। प्रत्येक घटना का अर्थ पथ–प्रदर्शन कर सकता है; क्योंकि घटना का अर्थ विवेकयुक्त होता है। जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है और जो कुछ करना है, वह विवेकपूर्वक करना है। मंगलमय विधान और विवेक, इन दोनों में जातीय एकता है। निज–विवेक व्यक्तिगत विधान है और प्राकृतिक–विधान है, 'समष्टि–विधान'। व्यष्टि और समष्टि में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से निज–विवेक के प्रकाश में किया हुआ कर्म अनन्त के मंगलमय विधान के अनुरूप ही होता है।

जो हो रहा है, उसका आदर न करने से अन्तर्संघर्ष और प्राप्त परिस्थिति का विवेकपूर्वक सदुपयोग न करने से बाह्य संघर्ष उत्पन्न होता है। अथवा यों कहो कि मिले हुए का आदर न करने से अन्तर्संघर्ष और उसका सदुपयोग न करने से बाह्य संघर्ष उत्पन्न हुआ है। प्राप्त परिस्थिति को साधन–सामग्री जान लेने से परिस्थिति में जीवन–बुद्धि नहीं रहती। उसके न रहने से अन्तर्संघर्ष मिट जाता है और कर्त्तव्यपरायणता से बाह्य संघर्ष नष्ट हो जाता है। कर्त्तव्यनिष्ठ वही हो सकता है, जो अपनी तथा दूसरों की वर्तमान निर्दोषता पर ही दृष्टि रखता है, अर्थात् भूतकाल की घटनाओं के आधार पर

वर्तमान की निर्दोषता को आच्छादित नहीं करता, अपितु किए हुए दोषों के त्याग का महाव्रत लेकर निर्दोष होकर दूसरों की निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए वैर–भाव से रहित प्रीतिपूर्वक परस्पर में सद्भावनाओं का आदान–प्रदान करता है।

परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि उसी मानव की नहीं होती, जो निज–विवेक के प्रकाश में जीवन के उद्देश्य का निर्णय करने में समर्थ होता है; कारण, कि परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि उन्हीं व्यक्तियों की होती है, जो जीवन के उद्देश्य पर विचार नहीं करते। उद्देश्य उसे नहीं कहते, जिसका वर्तमान जीवन से सम्बन्ध न हो, अर्थात् मानव–मात्र उद्देश्य–पूर्ति में स्वाधीन तथा समर्थ है। उद्देश्य–रहित जीवन मानव–जीवन नहीं है। उद्देश्य वही हो सकता है, जो अविनाशी हो; क्योंकि जिसको पाकर कुछ और पाना शेष रहता है, वह उद्देश्य नहीं होता। इसी कारण उद्देश्य की पूर्ति प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है; क्योंकि उससे देश–काल की दूरी नहीं है। उद्देश्य–पूर्ति में ही समस्त संघर्षों का नाश है। निर्दोषता से अभिन्न होने पर ही मानव निर्दोषता को सुरक्षित रख सकता है और निर्दोषता के सुरक्षित होने पर ही कर्त्तव्य–परायणता, असंगता एवं आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। अतः भूतकाल की घटनाओं के आधार पर अपने को अथवा दूसरों को दोषी मानना भूल है। इस भूल का अन्त करने पर ही अन्तर्बाह्य संघर्ष नष्ट हो सकते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

—•—

पंचम प्रकरण

प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के नहीं होते और न परिस्थिति ही समान होती है। देश–काल के भेद से भी रहन–सहन आदि में भेद होता

है; किन्तु मानवमात्र के वास्तविक उद्देश्य में कोई भेद नहीं होता। इस उद्देश्य की एकता के आधार पर ही मानव–समाज ने मानवमात्र के साथ एकता स्वीकार की है। इस अन्तः एकता के आधार पर प्रीति की एकता को स्वीकार न करना और अपने ही विचार, विश्वास तथा अपनी ही सामाजिक, सांस्कृतिक प्रणाली एवं अपने ही मत, सम्प्रदाय तथा वाद का आग्रह करना और उससे भिन्न का अनादर करना भी अनेक प्रकार के संघर्ष का कारण है।

प्राप्त योग्यता, रुचि एवं सामर्थ्य के द्वारा ही उद्देश्य की पूर्ति होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि मिले हुए के सदुपयोग में उद्देश्य की पूर्ति और दुरुपयोग में उद्देश्य की अपूर्ति होती है। मिले हुए के सदुपयोग में न तो पराधीनता ही है और न असमर्थता। इस दृष्टि से मानवमात्र उद्देश्य–पूर्ति में सर्वदा स्वाधीन है। परन्तु मानव जब अनेक भेद होने पर भी एक ही प्रकार से सभी को उद्देश्य–पूर्ति का आग्रहपूर्वक पाठ पढ़ाता है और अपनी प्रणाली से भिन्न का विरोध करता है, तब मानव विकास के नाम पर एक नवीन संघर्ष को जन्म देता है। उद्देश्य–पूर्ति के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के उपाय भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के लिए हो सकते हैं। अतः एक ही प्रकार के उपाय का आग्रह करना उपाय में आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आसक्ति के रहते हुए किसी भी उपाय से उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। उपाय की आसक्ति में उद्देश्य की विस्मृति हो जाती है। इस प्रमाद से मानव–समाज की बड़ी ही क्षति हुई है।

इस भयंकर क्षति का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्तिगत उपाय, अर्थात् अपनी–अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप अपनाई हुई विचारधारा, साधन–प्रणाली, सिद्धान्त एवं मान्यता आदि द्वारा अपने को सुन्दर बनाएँ। यह नियम है कि सुन्दरता का प्रभाव स्वभाव से ही मानव–समाज को आकर्षित करता है; किन्तु सर्वांश में नहीं; अथवा यों कहो कि सुन्दरता प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अग्रसर हो सकता है। किन्तु किसी भी प्रणाली को सर्वांश में दो व्यक्ति भी अपना नहीं सकते। इस

कारण व्यक्तिगत साधन की स्वाधीनता में भिन्नता का जो दर्शन होता है, वह प्राकृतिक है, काल्पनिक नहीं; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक साधन–प्रणाली सिद्धि देने वाली नहीं है।

असफलता का एकमात्र कारण तो असाधनयुक्त साधन है। असाधनरहित प्रत्येक साधन से उद्देश्य की पूर्ति होती है। अब विचार यह करना है कि असाधन क्या है ? जाने हुए असत् का त्याग बिना किए कोई भी प्रणाली सिद्धि देने वाली नहीं हो सकती। अतः जाने हुए असत् का संग ही समस्त असाधनों का मूल है। इस दृष्टि से सत्संग द्वारा असाधन की निवृत्ति होने पर जिस साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, उसी से सिद्धि होती है। असाधन का त्याग करने से पूर्व बेचारा व्यक्ति भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रणालियों को अपनाने का प्रयास करता है; किन्तु किसी भी पद्धति का सर्वांश में न तो अनुसरण ही कर पाता है और न सिद्धि ही पाता है।

किसी व्यक्ति का विध्यात्मक साधन क्या है ? उसका निर्णय किसी अन्य की तो कौन कहे, वह बेचारा स्वयं भी उस समय तक नहीं कर सकता, जब तक विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग न करे। असत् के त्याग द्वारा सत् का संग ही साधन–निर्माण में हेतु है। अपने जाने हुए असत् के त्याग का दायित्व अपने ही पर है। अतः अपने द्वारा अपने जाने हुए असत् का त्याग कर सत्संगपूर्वक सभी मानव विधिरूप साधन का निर्माण कर सकते हैं।

संघर्ष का नाश करने के लिए अपने जाने हुए का अपने पर प्रभाव परम आवश्यक है। क्योंकि जाने हुए के प्रभाव से ही असत् का त्याग होता है। असत् के त्याग करने की बात सभी के लिए सदैव उपयोगी तथा अनिवार्य है। असत् के त्याग में मानवमात्र एक है। जो व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश अपने जाने हुए असत् का त्याग नहीं कर सकता, वह न तो अपना ही विकास कर पाता है और न उसके द्वारा किसी अन्य का हित हो सकता है। अपने और दूसरों के हितार्थ असत् का त्याग अनिवार्य है; कारण, कि असत् का त्याग

करने पर ही अपनी मान्यता तथा प्रणाली का अनुसरण और दूसरों की मान्यताओं तथा पद्धतियों का आदर स्वभाव से ही हो सकता है। परस्पर में आदर का आदान–प्रदान होने पर स्नेह की वृद्धि और संघर्ष का अन्त अपने आप हो जाता है। अपनी पद्धति में विशेषता और दूसरों की पद्धति में न्यूनता का दर्शन करना भेद तथा संघर्ष को जन्म देना है। यदि कोई रोगी यह कहे कि मेरी औषधि ही सभी रोगियों की औषधि है, तो क्या यह निर्णय विवेकयुक्त है ? कदापि नहीं। एकता आरोग्य में है, उपचार में नहीं। रोग–भेद होने पर औषधि–भेद होना अनिवार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि सभी रोगी आरोग्य प्राप्त करना चाहते हैं। सबकी माँग एक है। इस कारण हम सब में स्नेह की एकता रहना परम आवश्यक है। इसी प्रकार पद्धतियों तथा मान्यताओं में भिन्नता और लक्ष्य में एकता अनिवार्य है।

लक्ष्य में एकता होने से हम सब एक हैं। किन्तु रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य में भेद होने से लक्ष्य-प्राप्ति की पद्धति में भेद है। पद्धति-भेद होने पर प्रीति का भेद स्वीकार करना प्रमाद है, जो संघर्ष का मूल है। प्रीति की एकता भेद का जन्म नहीं होने देती। भेद का नाश होने पर सीमित अहम्-भाव अपने आप गल जाता है। भेद स्वार्थ-भाव को जन्म देकर अहम्-भाव को पुष्ट करता है। प्रीति स्वार्थ-भाव को खाकर अहम्-भाव को नष्ट करती है और सभी को नित-नव रस प्रदान कर अपने को अथवा अन्य को कृतकृत्य करती है। इस दृष्टि से कर्म की भिन्नता होने पर भी प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है। कर्म की एकता तो प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्वांश में दो व्यक्तियों की भी सम्भव नहीं है और प्रीति की एकता सभी के साथ सम्भव है। जो सम्भव नहीं है, उसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है और जो सम्भव है, उसका सम्पादन मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। अतः प्रीति के सम्पादन के लिए ही मानव-जीवन मिला है। प्रीति पाने में कोई भले ही अपने को परतन्त्र पाता हो; किन्तु प्रीति देने में तो प्रत्येक मानव सर्वदा स्वाधीन है।

अब यदि कोई यह कहे कि प्रीति का सम्पादन कैसे हो ? तो यह कहना पड़ेगा कि अचाह तथा आत्मीयता ही प्रीति का उद्‌गम है। चाहरहित वही मानव हो सकता है, जो मिली हुई वस्तु को व्यक्तिगत नहीं मानता और आत्मीयता की अभिव्यक्ति उसी के जीवन में होती है, जो अनेकता में एकता का दर्शन करने में समर्थ है। निज–विवेक के प्रकाश में इन्द्रिय–दृष्टि से अनेकता और बुद्धि–दृष्टि से एकता भासती है। अपने लक्ष्य का निर्णय होने पर इन्द्रिय–दृष्टि का उपयोग और बुद्धि–दृष्टि का प्रभाव स्वतः होने लगता है। प्रभाव के अनुरूप भाव की जागृति होती है और भाव के अनुरूप कर्म का सम्पादन होता है। यह नियम है कि जिस भाव से कर्म किया जाता है, कर्त्ता का अस्तित्व कर्म के अन्त में उसी भाव में विलीन हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न कर्म एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। तब इन्द्रिय–दृष्टि की अनेकता में बुद्धि–दृष्टि की एकता का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। जब बुद्धि–दृष्टि का प्रभाव इन्द्रिय–दृष्टि के प्रभाव को अपने में विलीन कर लेता है, तब बुद्धि–दृष्टि सम हो जाती है। उसके सम होते ही निज–विवेक के प्रकाश में अनेकता–एकता का भेद गल जाता है और फिर अपने लक्ष्य में ही अगाध अनन्त, नित–नव प्रियता उदित होती है, जो स्वभाव से ही रस रूप है।

जब तक किसी व्यक्ति, वर्ग तथा समाज में रस की कमी, अर्थात् नीरसता नहीं उत्पन्न होती, तब तक वह काम से पीड़ित नहीं होता। काम की पूर्ति में नवीन राग और अपूर्ति में क्षोभ तथा क्रोध अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। राग पराधीनता में तथा क्षोभ विस्मृति में आबद्ध करता है। पराधीनता अधिकार–लालसा को और विस्मृति अधिकारों के अपहरण की प्रवृत्ति को जन्म देती है, जिससे परस्पर में भिन्न–भिन्न प्रकार के संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। बाह्य दृष्टि से संघर्षों का कारण आर्थिक अभाव तथा राजनैतिक पराधीनता प्रतीत होती है, पर अन्तर्दृष्टि से संघर्ष का मूल नीरसता, अर्थात् प्रीति का अभाव ही है। यदि मानव संघर्ष को समूल नष्ट करना

चाहता है, तो उसे प्रीति के साम्राज्य में प्रवेश करना होगा। उसके बिना कोई भी प्रयोग सफल नहीं हो सकता। बलपूर्वक संघर्ष मिटाया नहीं जा सकता, अपितु कुछ काल के लिए दबाया जा सकता है। दबा हुआ संघर्ष बड़ा ही भयंकर रूप धारण करके प्रकट होता है। सबल पक्ष निर्बल पक्ष को अपने अधीन कर कुछ काल के लिए शान्ति की बाह्य स्थापना भले ही कर ले; किन्तु निर्बल पक्ष की आन्तरिक व्यथा कालान्तर में बल सम्पादन कर नवीन संघर्ष को जन्म देती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जब तक अन्तर्बाह्य नीरसता तथा अभाव का अभाव नहीं होगा, तब तक संघर्ष का नाश नहीं हो सकता।

अन्तर्बाह्य नीरसता तथा अभाव व्यक्तिगत रूप से अपने में प्रतीत होता है और उसका कारण दूसरों को समझा जाता है। भला, क्या वह भी जीवन है, जिसकी सरसता तथा पूर्णता का कारण कोई और हो ! जिसका कारण कोई और होता है, उसकी पूर्ति कभी नहीं होती। नीरसता तथा अभाव यदि अपना उत्पन्न किया हुआ नहीं है, तो उसका नाश ही नहीं हो सकता। अपनी भूल को दूसरों में देखना अपने में नीरसता तथा अभाव को जन्म देना है। जब अपने में नीरसता आदि विकारों का जन्म हो जाता है, तब यही प्रतीत होने लगता है कि दूसरों ने बल के दुरुपयोग के द्वारा हमें असमर्थ बना दिया है। बड़े–से–बड़ा, सबल–से–सबल व्यक्ति, वर्ग तथा समाज उस समय तक हमें असमर्थ नहीं बना सकता, जब तक हम मिले हुए बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करते।

जो व्यक्ति, वर्ग तथा समाज निर्बलों की सेवा नहीं करता और विवेक–युक्त विधान के अधीन नहीं रहता, वही असमर्थ होता है अथवा यों कहो कि विवेक के अधीन बल का उपयोग न करने पर असमर्थता आती है। यह विवेक–सिद्ध है कि बाह्य भिन्नता अभिन्नता–सम्पादन का साधन है, परन्तु जाने हुए असत् को अपना कर भिन्नता को प्रीति–भेद में बदल लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्रीति आसक्ति का रूप धारण कर एकता को छिन्न–भिन्न

कर देती है, जिसके होते ही संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। जब तक मानव–समाज उद्देश्य की एकता के आधार पर प्रीति की एकता और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य की भिन्नता के आधार पर पद्धति की भिन्नता को नहीं अपनाएगा, तब तक संघर्ष का नाश न होगा और उसके नष्ट हुए बिना शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति न होगी। स्वाधीनता के बिना दिव्य–चिन्मय जीवन से अभिन्नता एवं परम प्रेम का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है। अतः प्रेम के साम्राज्य को प्राप्त किए बिना समस्त संघर्षों का नाश होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

—•—

षष्ठ प्रकरण

प्राकृतिक नियमानुसार प्राणियों को वस्तुओं की माँग है, सिक्के की नहीं। आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक मूल पदार्थों के द्वारा ही होता है। किसी सिक्के से किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं होता। किन्तु जब समाज में सिक्के का महत्त्व श्रम से अधिक हो जाता है, तब व्यक्तियों में सिक्का–संग्रह करने की रुचि उत्पन्न होती है और ज्यों–ज्यों संग्रह बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों व्यक्ति में आलस्य, विलास तथा अभिमान का जन्म होता जाता है, जिसके होते ही अकर्मण्यता, पराधीनता और परिच्छिन्नता में प्राणी आबद्ध हो जाता है।

सिक्के का महत्त्व बढ़ने से और श्रम का महत्त्व घट जाने से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने अधीन मानने लगता है। जब व्यक्ति अपने को किसी व्यक्ति के अधीन पाता है, तब उसमें हीनपरिज्ञान (Inferiority complex) उत्पन्न होता है और जो अपने अधीन किसी व्यक्ति को मानता है, उसमें मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है। दीनता तथा अभिमान के उत्पन्न हो जाने पर परस्पर में आत्मीयता नहीं रहती, जिसके न रहने से प्रियता की अभिव्यक्ति नहीं होती।

सिक्के का आविष्कार आवश्यक वस्तुओं के आदान–प्रदान में सुविधा रहे, इस दृष्टि से हुआ होगा। किन्तु आज उसने अपना प्रभाव ऐसा जमाया कि साधारण व्यक्तियों की तो कौन कहे, बड़े–बड़े कलाकार, विज्ञानवेत्ता और साहित्यिकों को भी अपने अधीन कर लिया है। यदि सिक्के का महत्त्व न रहे, तो मानव–समाज में से आलस्य, विलास एवं अकर्मण्यता तो बहुत ही कम हो जाए। आज श्रमी वर्ग भी श्रम के महत्त्व से दूर है। वह भी उसके बदले में बोनस लेकर ही प्रसन्न होता है। सिक्के के महत्त्व ने मजदूर और महाजन दोनों ही को पागल बना दिया है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में यदि परस्पर एकता का संचार करना है, तो सिक्के से श्रम का महत्त्व बढ़ाना होगा। श्रम का महत्त्व बढ़ाने का अर्थ यह नहीं है कि श्रम के बदले में अधिक सिक्के प्राप्त करना ही स्वभाव बना लिया जाए। श्रम के महत्त्व का अर्थ है कि व्यक्ति किसी न किसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन में ही प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता व्यय करे। वस्तुओं का सम्पादन करने पर भी इस बात का ध्यान रहे कि वस्तुओं के बदले में सिक्के का संग्रह नहीं करना है। समाज का वह वर्ग जो वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकता–बालक, रोगी आदि–उन्हें आवश्यक वस्तुएँ अपने आप ही देने का विधान बना लिया जाए, तभी श्रम का वास्तविक महत्त्व बढ़ सकता है। श्रम को सिक्के में बदलने से श्रम का महत्त्व नहीं बढ़ता। सिक्के के आधार पर एक देश दूसरे देश को विनाश की सामग्री देकर एक स्थाई विद्रोह की भावना को जन्म देता है। यदि सिक्के का महत्त्व मानव के जीवन से मिट जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक परस्पर एकता स्थापित हो सकती है। वस्तुओं के उत्पादन के साधन प्राकृतिक नियमानुसार व्यक्तिगत नहीं हैं। तो फिर उत्पादित वस्तुएँ व्यक्तिगत कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् नहीं हो सकतीं। वस्तु व्यक्ति की सेवा के लिए है, केवल अपने सुख–भोग के लिए ही नहीं। जीवन में रस की माँग है। सुख–भोग का रस व्यक्ति को पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध करता है और सेवा का रस मानव को उत्तरोत्तर स्वाधीनता तथा चिन्मयता की ओर अग्रसर

करता है। इस दृष्टि से सेवा सुख–भोग की रुचि को खाकर व्यक्ति और समाज में वास्तविक एकता स्थापित करने में समर्थ होती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य कोई आँक नहीं सकता। वही वस्तु देश–काल के भेद से अधिक तथा कम मूल्य की मान ली जाती है। यदि वस्तु का अपना कोई मूल्य होता, तो यह विषमता न होती। मूल्य है वस्तु की आवश्यकता तथा सिक्के के संग्रह में; जिस प्रकार मानव–समाज विद्युत–उत्पादन–कम्पनी को सिक्का देकर उसका मनमाना व्यय करता है और कम्पनी अवसर पाकर मूल्य बढ़ाती रहती है। यदि विद्युत का उद्‌गम सूर्य अपनी रुचि के अनुसार मूल्य माँगना आरम्भ कर दे, तो कौन व्यक्ति, वर्ग तथा समाज ऐसा होगा, जो उसे चुका सके ? प्राकृतिक नियम तो ऐसा है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोगी होती है, उतनी ही सुगमता से प्राप्त होती है। जैसे, रत्नों की अपेक्षा स्वर्ण तथा चाँदी, चाँदी से अन्न, अन्न से जल, जल से प्रकाश, प्रकाश से वायु और वायु से आकाश उत्तरोत्तर सुगमतापूर्वक स्वतः ही प्राप्त होते हैं। इस प्राकृतिक विधान का आदर करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जीवनोपयोगी वस्तुएँ अमूल्य हैं, उनका कोई मूल्य चुका नहीं सकता। असमर्थता–काल में आवश्यक वस्तु विधान के अनुसार स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से रोगी और बालक के विकास के लिए सभी उत्पादक वर्गों तथा देशों को उत्पादित वस्तु आदर पूर्वक भेंट करना चाहिए। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो कभी असमर्थ न रहा हो और उसका पोषण तथा शिक्षण समाज के श्रम तथा प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा न हुआ हो। वही व्यक्ति जब उत्पादन करने के योग्य हो जाता है, तब उत्पादित वस्तुओं को अपनी मान लेता है और उसके बदले में सिक्के के संग्रह में लग जाता है। इस प्रमाद का बड़ा ही भयंकर परिणाम हुआ है।

श्रमी वर्ग यदि श्रम के बदले में उदारता का सम्पादन करे, तो उससे उत्पादित वस्तुएँ उन्हें भेंट हो सकती हैं, जो उत्पादन नहीं कर सकते। इसका बड़ा ही सुन्दर परिणाम यह होगा कि जब वह

वर्ग, जिसे उदारतापूर्वक वस्तुएँ भेंट की गई थीं, समर्थ होगा, तब उसके स्वभाव में भी उत्पादित वस्तुओं को भेंट करने की सद्भावना जाग्रत होगी, जिससे प्रेरित होकर परम्परा में उदार–चरित मानव उत्पन्न होते रहेंगे। जिस वर्ग तथा समाज में सच्चरित्र व्यक्तियों की उत्पत्ति अधिक होती है, वह वर्ग तथा समाज उदार तथा व्यापक हो जाता है। इतना ही नहीं, वह किसी अन्य वर्ग तथा समाज से शासित नहीं रहता; कारण, कि राष्ट्र–प्रणाली की माँग समाज को तभी होती है, जब मानव–समाज उत्पादित वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उदारतापूर्वक सद्व्यय नहीं करता। उदारता व्यक्ति में करुणा तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करती है। करुणा सुख–भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। सुख–भोग की रुचि का तथा नीरसता का नाश होते ही जीवन में निर्विकारता आ जाती है, जिसके आते ही दिव्य–चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है और पारस्परिक संघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इस दृष्टि से श्रमी वर्ग को उदारता अपना लेना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि उदारता तो उन्हें अपनानी चाहिए, जिन्होंने सिक्कों का संग्रह किया है। यह बात स्थूल दृष्टि से तो ठीक ही मालूम होती है। परन्तु यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें, तो यह स्पष्ट विदित होता है कि संग्रही के आस–पास जो श्रमी वर्ग है, उसने भी सिक्के के महत्त्व को ही अपना लिया है, तभी वह बहुत से साथियों के अधिकारों का अपहरण संग्रही द्वारा कराता रहता है। यदि श्रमी वर्ग में उदारता आ जाए, तो संग्रही बेचारा विवश होकर संग्रह का सदुपयोग करने लगे। अपने–अपने पद को सुरक्षित रखने के लिए शारीरिक तथा बौद्धिक श्रमी संग्रही के अधीन हो जाते हैं। यह श्रमी वर्ग का प्रमाद है।

इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह विचारधारा तो संग्रही को निर्दोष सिद्ध करती है। पर बात ऐसी नहीं है; क्योंकि संग्रह ज्यों–ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों संग्रही की चेतना जड़ता से आच्छादित होती जाती है। संग्रही की अपेक्षा श्रमी में चेतना अधिक

रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुधार का आरम्भ उसी से होता है, जिसमें चेतना अधिक है। अतः श्रमी वर्ग के सुधार में ही समाज का सुधार निहित है। आज तक किसी भी संग्रही के द्वारा समाज का उत्थान नहीं हुआ। एक–एक उदार–चरित मानव के पीछे करोड़ों व्यक्ति चले। इससे भी यही सिद्ध होता है कि बौद्धिक श्रमी के द्वारा शारीरिक श्रमी का उत्थान और इन दोनों के उत्थान में ही समाज का उत्थान है। यदि मिल के मैनेजर, इंजीनियर और रसायनज्ञ (Chemist) अपनी उत्पादित वस्तुओं का दुरुपयोग न करने दें, तो कोई भी संग्रही दुरुपयोग करने में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। परन्तु श्रमी वर्ग के मन में सिक्के का इतना प्रलोभन हो गया है कि वह सोचने लगता है कि यदि संग्रही के मन की बात पूरी न की, तो मुझे निकाल दिया जायेगा और मेरे स्थान पर अनेक साथी आ जाएँगे। इस भय से भयभीत होकर श्रमीवर्ग संग्रही के अन्याय का समर्थन करने लगता है। अब निष्पक्ष भाव से विचार करो कि सुधार का दायित्व श्रमी वर्ग पर अधिक है अथवा संग्रही पर ?

श्रमी संग्रही के बिना रह सकता है; किन्तु संग्रही श्रमी के बिना नहीं रह सकता। पर आज श्रमी अपने महत्त्व को भूल गया है और श्रम के बदले में अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं पर ही ध्यान देता है। व्यक्तिगत सुख–लोलुपता का प्रलोभन सर्व हितकारी सद्भावनाओं को सबल नहीं होने देता। उसी का यह परिणाम हुआ है कि श्रम संग्रह के अधीन है। संग्रह का महत्त्व श्रमी के प्रमाद से बढ़ा है। यदि श्रम का महत्त्व बढ़ाना है, तो श्रमी को अपना सुधार करना होगा। जो व्यक्ति, वर्ग तथा समाज अपने विकास तथा ह्रास का कारण अपने से भिन्न को मानता है, उसका न तो विकास ही होता है और न ह्रास ही रुकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मानव अपने विकास में स्वाधीन है। पर कब ? जब मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु का दुरुपयोग न करे। व्यक्तिगत रूप से जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उस वर्ग का है, जिसमें अभाव है। मिला हुआ देने पर ही और मिलेगा। देकर न माँगना ही प्राकृतिक

नियम के अनुसार अपने विकास का साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले तत्त्वदर्शी ही जानते हैं।

न माँगने का अर्थ भूखा, नंगा रहकर मर जाना नहीं है। न माँगने का अर्थ है–देने वाले की प्रसन्नता के लिए आवश्यक वस्तु स्वीकार करना अथवा यों कहो कि अधिकार–लालसा से रहित कर्त्तव्यनिष्ठ होना। कर्त्तव्य का ज्ञान मानवमात्र के निज–विवेक में विद्यमान है। विवेक–विरोधी कर्म के त्याग से ही श्रम का महत्त्व बढ़ सकता है और श्रम का महत्त्व बढ़ने से ही सिक्के का महत्त्व घट सकता है, जिसके घटते ही संग्रह की रुचि मिट सकती है और आलस्य, अकर्मण्यता तथा विलास का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में, दो वर्गों में, दो देशों में वास्तविक एकता हो सकती है।

स्वाधीन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव से ही समाज में स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। स्वाधीन समाज न तो किसी से भयभीत होता है और न किसी को भय देता है। भयभीत समाज ही युद्ध–सामग्री का संग्रह करता है। यदि श्रमी वर्ग युद्ध की भावना में सहयोग न दे, तो युद्ध–सामग्री ज्यों–की–त्यों, जहाँ–की–तहाँ रखी रहेगी, उसका कोई उपयोग न होगा। परस्पर का संघर्ष युद्ध–सामग्री के बल पर नहीं रोका जा सकता। मानव में यदि विद्यमान मानवता का विकास हो जाए, तो संघर्ष का नाश हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव पर मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य के सदुपयोग का दायित्व है। कर्त्तव्यपरायणता कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों के जीवन से व्यापक होती है। उसे वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा नहीं फैलाया जा सकता। भयभीत समाज कभी भी संघर्ष का अन्त नहीं कर सकता। निर्भयता की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में तत्परता बनी रहे। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश अपने–अपने बल का दूसरे व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश के हित में व्यय करें और विनाशकारी सामग्री का उत्पादन न करें।

श्रमी वर्ग सिक्के के प्रलोभन से रहित होकर विनाशकारी वस्तुओं के उत्पादन से असहयोग कर अपने श्रम द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करें; किन्तु उन्हें व्यक्तिगत न मानें। ऐसे साधक ही व्यक्ति और समाज की एकता का दर्शन कर श्रम के महत्त्व से सिक्के का महत्त्व घटाकर, संग्रह की भावना को मिटाकर, शान्ति की स्थापना द्वारा परस्पर एकतापूर्वक संघर्ष का नाश कर सकते हैं। यह निर्विवाद सत्य है।

सिक्के की उपयोगिता एकमात्र सुविधापूर्वक वस्तुओं के आदान–प्रदान में है। वास्तव में तो जीवन में सिक्के की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीवन में आवश्यकता वस्तु की है। परन्तु जब मानव–समाज वस्तु का महत्त्व व्यक्ति से अधिक मान लेता है, तभी व्यक्ति का निर्माण रुक जाता है। व्यक्ति को स्वयं सुन्दर बनने के लिए वस्तुओं का महत्त्व व्यक्तियों से कम करना होगा, अर्थात् सिद्धान्त रूप से यह बात माननी होगी कि वस्तु व्यक्ति के विकास के लिए है। जब जीवन में वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व अधिक हो जाता है, तब निर्लोभता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का अभाव मिट जाता है। यह भौतिक विज्ञान का नियम है। पर आज इस नियम पर सर्व साधारण की दृष्टि ही नहीं जाती। उसका बड़ा ही दुष्परिणाम हुआ है। निर्लोभता प्रकृति का वह विधान है, जो आवश्यक वस्तुओं को अपने आप उत्पन्न करता है। इसका अनुभव मानवमात्र कर सकता है। यह ऐसी बात नहीं है, जिसका अनुभव प्रयोग सिद्ध न हो। निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की सेवा में स्वभाव से ही होने लगता है, संग्रह की रुचि का जन्म ही नहीं होता और न वस्तुओं में ममता ही होती है। अप्राप्त वस्तुओं की कामना की तो कौन कहे, लोभरहित होते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश हो जाता है; अर्थात् निर्लोभता मानव को विवेकयुक्त जीवन से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना हितकर ही सिद्ध होता है।

व्यक्ति से वस्तु को अधिक महत्त्व देने से व्यक्तियों में वस्तुओं की दासता उत्पन्न होती है। वस्तुओं की दासता वस्तुओं का सदुपयोग नहीं करने देती और न विवेक का आदर ही रहता है। विवेक का अनादर होते ही अविवेक की उत्पत्ति हो जाती है और फिर अकर्त्तव्य का जन्म हो जाता है। अकर्त्तव्य ही परस्पर संघर्ष का कारण है। संघर्ष से वस्तु और व्यक्ति दोनों ही का विनाश होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं की उत्पत्ति व्यक्तियों के हितार्थ होती है। उन वस्तुओं का महत्त्व व्यक्तियों से अधिक कर देना मंगलमय विधान का हनन करना है। विधान का विरोध किसी के लिए भी कभी भी हितकर सिद्ध नहीं होता। अतः वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है।

वस्तुओं की दासता से रहित मानव न तो वस्तुओं का दुरुपयोग ही करता है और न वस्तुओं के आश्रय के आधार पर अपना महत्त्व मानता है, क्योंकि वस्तु–युक्त होने से व्यक्ति का महत्त्व नहीं है। व्यक्ति का महत्त्व विवेकवित् होने में निहित है। इस दृष्टि से विवेकी मानव को अविवेकियों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व देना है। इतना ही नहीं, अविवेकी मानव, मानव के भेष में अमानव है। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है। कारण, कि पशु में विवेक जाग्रत नहीं है, इससे उस पर विवेकी होने का दायित्व नहीं है। किन्तु मानव मात्र में विवेक जाग्रत है, इस कारण उस पर दायित्व है कि वह विवेक का अनादर न करे, अर्थात् प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देश का वही मानव आदरणीय है, जो विवेकी है। व्यक्ति के महत्त्व को इतना न बढ़ा दिया जाए कि अपने मत, सम्प्रदाय, वर्ग तथा देश का अविवेकी मानव भी अन्य मत, सम्प्रदाय, वर्ग और देश के विवेकी के समान मान लिया जाए। अनेकों अविवेकियों की अपेक्षा एक विवेकी कहीं उच्चकोटि का मानव है। इतना ही नहीं, विवेकी कोई भी हो, उसके परामर्श को आदर देना और अन्य की तो कौन कहे, अविवेकी माता–पिता, नेता आदि की भी बात को न मानना हितकर सिद्ध होता है। अनेक घटनाओं से ऐसा अनुभव हुआ है। इस कारण

विवेकवित् होने पर ही व्यक्ति आदरणीय है।

यह नियम है कि जब तक जीवन में विवेक का साम्राज्य रहता है, तब तक जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य नष्ट नहीं होती। प्राकृतिक नियमानुसार जाने हुए असत् के त्याग में ही समस्त विकास निहित है। इस दृष्टि से मानवमात्र को विवेक का आदर करना है। विवेक वह प्रकाश है, जिसमें बुद्धि–दृष्टि द्वारा मानव इन्द्रिय–दृष्टि पर विजय प्राप्त करता है। विवेक के प्रकाश से बुद्धि में सामर्थ्य आती है और फिर वह अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों को पूरा करने का समर्थन नहीं करती, जिससे अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प पूरे हुए बिना अपने आप मिट जाते हैं और आवश्यक एवं शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही बुद्धि भगवती विश्राम पाती है और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में निर्विकल्पता सुरक्षित रहती है। निर्विकल्पता से असंग होना भी विवेक–सिद्ध ही है। निर्विकल्पता से असंग होते ही वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर करने में विवेक ही मुख्य साधन है।

विवेक का महत्त्व सत्य की ओर अग्रसर होने में है, विवाद में नहीं। विवेक साधन है, साध्य नहीं। साधन का अनुसरण सिद्धिदाता है; किन्तु साधन की ममता साधन के रूप में असाधन है। साधन की ममता से रहित होने में ही साधन की पूर्णता निहित है। अतः विवेक का महत्त्व व्यक्ति से बहुत ऊँचा है। परन्तु विवेक का उपयोग सत्य की खोज में है, विवेकी कहलाने में नहीं। विवेकी कहलाने की रुचि में विवेक का अनादर है। इस कारण विवेक से भी अपने साध्य को अधिक महत्त्व देना है, क्योंकि साध्य में अगाध, अनन्त, नित–नव प्रियता ही मानव की वास्तविक माँग है। अतः सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक और विवेक से अपने साध्य को अधिक महत्त्व देना है। उद्देश्य–पूर्ति तथा संघर्ष का अन्त एवं शान्ति की स्थापना करने के लिए यह क्रम स्वीकार करना प्रत्येक मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है।

सप्तम प्रकरण

अपने गुण और पराये दोष देखने से पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती। गुण, अभिमान को और दोष, भेद को जन्म देता है। अभिमान, परिच्छिन्नता में और भेद, अविश्वास में आबद्ध कर देता है। परिच्छिन्नता अनेक आसक्तियों को और अविश्वास अकर्त्तव्य को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से अपने गुण तथा पराये दोष देखने से भी संघर्ष का जन्म होता है। गुण किसी व्यक्ति विशेष की वस्तु नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव है। दोष का स्वतन्त्र-अस्तित्व नहीं है, अपितु प्रमाद का परिणाम है। प्रमाद जाने हुए के अनादर से उत्पन्न होता है, इस कारण वह अपना ही बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए दोष को मिटाने का दायित्व अपने ही पर है। जब तक दोषी स्वयं निर्दोष होना नहीं चाहता, तब तक उसे किसी भी भय तथा प्रलोभन से निर्दोष नहीं बनाया जा सकता। यद्यपि निर्दोषता की माँग मानवमात्र में स्वाभाविक है, परन्तु पर–दोष–दर्शन से निज–दोष की व्यथा इतनी दब जाती है कि निर्दोषता के लिए उतनी व्याकुलता ही नहीं होती, जितनी आवश्यक है। प्राकृतिक नियमानुसार व्याकुलता की अग्नि में सभी दोष भस्म हो जाते हैं। पर इस रहस्य को वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने पर–दोष–दर्शन का त्याग कर अपने प्रमादजन्य दोषों का दर्शन किया है। अपने दोषों का दर्शन करते ही दोषों से भिन्नता स्वतः हो जाती है। यह नियम है कि उत्पन्न हुई सभी निर्बलताओं से यदि विवेकपूर्वक भिन्नता स्वीकार कर ली जाए, तो वे स्वतः नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार अपने दोषों का नाश होते ही गुणों का अभिमान अपने आप गल जाता है। अर्थात् जब दोष उत्पन्न नहीं होते, तब गुणों का भी भास नहीं होता।

दोष–जनित वेदना को दबाने के लिए व्यक्ति अपने को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर लेता है, परन्तु गुणों का अभिमान अनेक दोषों को जन्म देता है। इस कारण गुणों का अभिमान समस्त दोषों की भूमि है।

गुणों का अभिमान रहते हुए सर्वांश में निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। कारण, कि गुणों का अभिमान पर–दोष–दर्शन कराने में हेतु है। पर–दोष–दर्शन करते हुए निज–दोष का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता और न दोष–जनित वेदना ही जाग्रत होती है, जिसके हुए बिना निर्दोषता से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से दोषों को बनाए रखने में पर–दोष–दर्शन ही मुख्य हेतु है। 'पर' की सेवा की जा सकती है और 'पर' की ममता का त्याग हो सकता है। 'पर' की सेवा विद्यमान राग की निवृत्ति में साधन रूप है और 'पर' की ममता का त्याग होने पर नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से पर–सेवा और 'पर' की ममता का त्याग मानवमात्र को राग–रहित करने में समर्थ है। राग–रहित होते ही समस्त विकास अपने आप होने लगते हैं। अतः अपने गुण तथा पराए दोष देखने का मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। पर–दोष–दर्शन का त्याग किए बिना निर्दोषता के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं हो सकता। गुणों को अपना मानना मिथ्या अभिमान को बढ़ाना है, जो अविवेक–सिद्ध है।

विवेक–दृष्टि से अपने में अपना कुछ नहीं है। सभी वस्तुएँ विश्व की हैं, अपनी नहीं। और वस्तुओं से अतीत जो जीवन है, उसमें अहम् की गन्ध भी नहीं है। यह रहस्य स्पष्ट होते ही समस्त वासनाओं का नाश हो जाता है। निर्वासना आते ही समस्त दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। कोई भी गुण पुरुषार्थ–सिद्ध नहीं है और न किसी कर्म का ही फल है। कर्म का परिणाम परिस्थिति है, जो विधान से निर्मित है। कर्म–सामग्री कर्म का फल नहीं है, क्योंकि सामग्री की प्राप्ति होने पर ही कर्म की सिद्धि हो सकती है। जो कर्म का कारण है, वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अपने में अपना कुछ नहीं है। निज–विवेक के प्रकाश में यह जान लेने पर कि अपने में अपना कुछ नहीं है, निरभिमानता आ जाती है, जिसके आते ही निर्विकारता तथा निर्भरता स्वतः आ जाती है। निर्विकारता आते ही

जीवन जगत् के लिए और निर्भरता आते ही जीवन अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रकार निरभिमानता में ही समस्त विकास निहित हैं।

गुणों के अभिमान के आधार पर उत्पन्न हुआ भेद, प्रीति को व्यापक नहीं होने देता, जिसके न होने से कर्त्तव्यपरायणता नहीं आती। प्रीति की व्यापकता के बिना अकर्त्तव्य का नाश कदापि नहीं हो सकता। कारण, कि प्रीति जिसमें होती है, उसके प्रति वह कभी नहीं करने देती, जिससे उसका विनाश हो, अर्थात् प्रीति अहितकर प्रवृत्तियों का नाश कर देती है। यह नियम है कि अहितकर प्रवृत्तियों के नाश में ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति निहित है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता के लिए प्रीति की व्यापकता अनिवार्य है। प्रीति व्यापक तभी हो सकती है, जब मानव की अपने गुणों तथा पराये दोषों पर दृष्टि न रहे।

अभिमान से उत्पन्न हुई परिच्छिन्नता मानव को वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रय से रहित नहीं होने देती। निराश्रय के बिना न तो पराधीनता का ही नाश होता है और न व्यक्तित्व के मोह का ही अन्त हो सकता है। पराधीनता तथा व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध प्राणी गुण तथा दोष के द्वन्द्व से रहित नहीं हो पाता। इस कारण परिच्छिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है। परिच्छिन्नता विश्व की सेवा तथा अनन्त की प्रीति में ही विलीन हो सकती है। अपने गुण और पराये दोष न देखने पर ही सेवा तथा प्रीति की अभिव्यक्ति होती है। अतः अपने गुण तथा दूसरों के दोष देखना संघर्ष का मूल है। इस प्रमाद को अपनी भूल जानकर उसका नाश करना अनिवार्य है, तभी समस्त संघर्षों का नाश एवं शान्ति की स्थापना तथा परस्पर स्नेह की एकता सुरक्षित रह सकती है, यह निर्विवाद सत्य है।

प्राकृतिक नियमानुसार निर्दोषता मानव की अपनी माँग है। उसी की पूर्ति के लिए वर्तमान जीवन का उपयोग है। निज–दोष–दर्शन की सामर्थ्य मानवमात्र को मिली है। जब व्यक्ति को उस मिली हुई

सामर्थ्य से अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति में किसी दोष का दर्शन होता है, तब वह स्वभाव से ही क्षुब्ध तथा भयभीत हो जाता है। यह नियम है कि क्षोभ क्रोध को और क्रोध विस्मृति को उत्पन्न कर देता है और फिर बेचारा प्राणी अपने दोष के भय से भयभीत होकर दोष देखने वाली सामर्थ्य का प्रयोग दूसरे पर करने लगता है। जब वह अपने दोष का आरोप दूसरे पर कर लेता है, तब उसे अपने में अपने प्रति ग्लानि कम हो जाती है, जिसके होते ही अपने किसी न किसी गुण को देखकर दोष–जनित दुःख तथा भय को दबा देता है। यद्यपि दबा हुआ दुःख तथा भय मिटने के लिए अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। पर गुणों का अभिमानी प्राणी बार–बार प्रकट हुए भय तथा दुःख को दबाता ही रहता है। इस अन्तः संघर्ष में जीवन यों ही निकल जाता है। जब मानव सजगतापूर्वक पर–दोष–दर्शन से अपने को विमुख कर लेता है, तब जो सामर्थ्य निज–दोष जानने के लिए मिली थी, उसका उपयोग अपने ही जीवन पर होने लगता है। फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक गुणों के अभिमान से रहित होकर निर्दोष–तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। इस प्रकार अन्तः संघर्ष का अन्त करने पर उसके बाह्य जीवन में भी स्नेह की ही अभिव्यक्ति होती है, जिससे उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति पारस्परिक एकता सुरक्षित रखने में साधनरूप हो जाती है। अतः अपने गुण तथा पराये दोष न देखना ही संघर्ष का अन्त करने में मुख्य साधन है।

—•—

अष्टम प्रकरण

दोषयुक्त जीवन के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति भलीभाँति परिचित है। यदि ऐसा न होता, तो अपने प्रति होनेवाली बुराई का ज्ञान ही न होता। जिसे यह प्रतीति नहीं है कि मेरे साथ किसी ने बुराई की है, उसके जीवन में भेद का जन्म ही नहीं होता और उसके हुए बिना न तो किसी से सुख की आशा होती है और न दुःख का भय। सुख

की आशा ने जीवन में पराधीनता को जन्म दिया और पराधीनता में आबद्ध प्राणी की दृष्टि दूसरों के कर्त्तव्य पर ठहर गई। उसका परिणाम यह हुआ कि अपने कर्त्तव्य की विस्मृति हो गई। समस्त विकार विस्मृति से ही पोषित होते हैं। इस दृष्टि से सजगता मानव–जीवन की अमूल्य निधि है।

अपने सुख–दुःख का कारण दूसरों को मानना भूल है। इस भूल के आधार पर अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना सम्भव नहीं है। जो नीति कर्त्तव्य के निर्णय में समर्थ न हो, उसकी मानव–जीवन में कोई आवश्यकता ही नहीं है। नीति वही सार्थक होती है, जो अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ हो। अनन्त के विधान से निर्मित निज–विवेक के विरुद्ध कोई भी कार्य करना अनीति है, नीति नहीं। विवेक–विरोधी कर्म ने ही परस्पर में भेद, भिन्नता तथा संघर्ष को जन्म दिया है।

अतः जो रूढ़िगत प्रथा विवेक–विरोधी कर्म के लिए किसी प्रलोभन तथा भय से प्रेरित करती है, वह सर्वथा त्याज्य है, उसी का नाम अनीति है। अनीति का त्याग किये बिना जीवन में नीति का अनुसरण सम्भव नहीं है। इसी कारण अपने प्रति होने वाली बुराई किसी अन्य के प्रति नहीं करना है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या अपने प्रति होने वाले अन्याय तथा अत्याचार का विरोध नहीं करना चाहिए ? यदि अन्यायी अपने से सबल है, तब आप उसका विरोध बलपूर्वक कर ही नहीं सकते। यदि विपक्षी अपने से निर्बल है, तब आप अपनी रक्षा करते हुए उसके प्रति न्याय तथा प्रेम–युक्त व्यवहार कर ही सकते हैं। अतः यह प्रश्न ही नहीं बनता कि अन्याय का उत्तर न्याय तथा प्रेम से नहीं दिया जा सकता।

अन्याय का अन्त न्याय तथा प्रेम से ही हो सकता है। अन्याय की प्रतिक्रिया यदि अन्याय पूर्वक की जाय, तो अन्याय का ही आदान–प्रदान होता रहता है, जो स्थाई संघर्ष तथा भेद का पोषण करता है। इस कारण अन्याय का उत्तर अन्याय से नहीं देना है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि अपने प्रति अन्याय करने वाले में अपने से बाह्य बल अधिक है, इस कारण उसके मन की बात पूरी करने के लिए अपने मन को दबा दें, अथवा बदल दें। अन्यायकर्त्ता कितना ही सबल हो, उससे भयभीत नहीं होना है, उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना है। यहाँ तक कि प्रसन्नता और धीरजपूर्वक अपने प्राणों तक की आहुति देकर अन्याय की अस्वीकृति का परिचय देना है। इस दृष्टि से अन्याय का विरोध तो करना है; किन्तु किसी के प्रति अन्याय नहीं करना है। अपनी रक्षा की भावना में किसी के विनाश का भाव नहीं रखना है। अपनी रक्षा करने के लिए सदैव सजग रहना है और बाह्य बल का अपने अन्तर्जीवन में भय नहीं रखना है, अपितु त्याग तथा प्रेम के द्वारा अपने को सुरक्षित रखना है। त्याग तथा प्रेम के समान और कोई बल नहीं है। त्याग देहाभिमान का नाश करने में और प्रेम अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। देहाभिमान गल जाने पर बड़े से बड़ा शक्तिशाली बल के प्रयोग द्वारा उस पर शासन नहीं कर सकता। इस दृष्टि से त्यागपूर्वक अपने को अन्यायी के शासन से मुक्त करना है और प्रीतिपूर्वक उसके अन्याय का नाश करना है।

सर्वांश में कोई भी व्यक्ति अन्यायी नहीं होता और सभी के लिए कोई अन्यायी नहीं होता और सर्वदा कोई अन्याय नहीं करता। सभी को किसी न किसी अंश में न्याय तथा प्रेम को अपनाना ही पड़ता है। सर्वांश में जीवन न्याय तथा प्रेमयुक्त हो जाए, यही वास्तविक अनुपम नीति है।

मानव अपने प्रति दूसरों से जिस भलाई की आशा करता है, वही भलाई उसे बिना किसी प्रलोभन तथा भय के दूसरों के प्रति करनी है। इससे सुन्दर कोई भी कर्त्तव्य–विज्ञान नहीं हो सकता। कर्त्तव्य–विज्ञान अपने को स्वाधीन तथा समाज को सुन्दर बनाने का मूल मन्त्र है। कर्त्तव्य–विज्ञान की दृष्टि से दूसरों के प्रति किया हुआ कई गुना अधिक अपने प्रति स्वतः हो जाता है, यह प्राकृतिक विधान से सिद्ध है। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर किसी के प्रति

किसी भी परिस्थिति में बुराई करने का कोई स्थान ही नहीं रहता।

बुराई की प्रतिक्रिया से व्यथित होकर मानव–समाज ने बलपूर्वक बुराई को रोकने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के राष्ट्रों की कल्पना की और राष्ट्र द्वारा आंशिक बुराई का दमन भी हुआ। राष्ट्र के बल से निर्बल और सबल एक स्थान में रहने लगे; किन्तु व्यक्ति के जीवन में से बुराई का सर्वांश में नाश नहीं हुआ, यह सभी को विदित है। इस अनुभूति के आधार पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुराई की उत्पत्ति जिसमें होती है, उसी को बुराई का नाश करना है। इस प्रथा को सजीव बनाने के लिए मानव–समाज में अनेक मत, सम्प्रदाय आदि का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु योग्यता, रुचि, सामर्थ्य का भेद होने से कोई भी मत, सम्प्रदाय आदि मानवमात्र के लिए सर्वांश में उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। एक–एक मत के मानने वाले करोड़ों व्यक्ति हुए। उन्होंने मत के बाह्य रूप को कार्यान्वित भी किया, परन्तु सर्वांश में दोषों का अन्त मानव–समाज से नहीं हुआ। इसका कारण एकमात्र यही विदित होता है कि जब तक मानव अपने जाने हुए दोष को त्याग कर निर्दोषता की स्थापना नहीं करेगा, तब तक राष्ट्र, मत तथा सम्प्रदाय मानव–समाज को सर्वांश में निर्दोष नहीं बना सकते।

इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्र तथा मत, सम्प्रदाय ने जो प्रकाश दिया वह ठीक नहीं है। परन्तु मानव ने अपने जीवन से राष्ट्र अर्थात् न्याय और मत, सम्प्रदाय, अर्थात् प्रेम को प्रकट नहीं किया, उसे दूसरों की बात मानकर अपनाया। उसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र अपना तो है, पर उसका विधान नहीं मानेंगे; अपने मत, सम्प्रदाय का विरोध अपने ही जीवन से करेंगे। अथवा यों कहो कि राष्ट्र तथा मत–सम्प्रदाय अपने जीवन से अलग की वस्तु बन गई। यह नियम है कि जो जीवन में नहीं है, वह न तो विभु हो सकता है और न नित्य, और न वह उद्देश्य की पूर्ति में ही समर्थ होता है। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक के प्रकाश में मानवमात्र को अपने प्रति न्याय करने के लिए जीवन में से ही राष्ट्र का निर्माण और सभी से प्रेम

करने के लिए जीवन ही में से अपने मत, सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव करना होगा।

जो अपने प्रति न्याय करता है, वह किसी अन्य से शासित नहीं होता; कारण, कि अपने प्रति न्याय अपने को निर्दोष बनाने में समर्थ है। निर्दोषता पर किसी का शासन नहीं रहता; क्योंकि निर्दोषता की माँग सभी को है। जिसकी माँग सभी को है, उसके अधीन सभी को होना पड़ता है। उस पर कोई शासन नहीं करता। अतः निर्दोषता के अधीन समस्त विश्व रहता है।

अनेकता में एकता का, भेद में अभेद का, भिन्नता में अभिन्नता का दर्शन करने के लिए एवं नित–नव रस के आदान–प्रदान के लिए प्रेम की माँग मानवमात्र को है। जिस प्रकार राष्ट्र का प्रतीक न्याय है, उसी प्रकार मत, सम्प्रदाय का प्रतीक प्रेम है। किसी पद्धति का राष्ट्र हो, उससे न्याय की ही और कोई भी सम्प्रदाय हो, उससे प्रेम की ही आशा की जाती है। सारांश यह है कि न्याय और प्रेमयुक्त जीवन की माँग सभी को है। न्याय वही सार्थक सिद्ध होता है, जो अपने प्रति किया जाए और प्रेम वही सजीव होता है, जो विभु हो। जो किसी सीमा में आबद्ध है वह प्रेम नहीं और जो अन्य के प्रति किया जाता है वह न्याय नहीं। सर्वांश में अन्याय का अन्त होते ही न्याय स्वतः प्रेम में विलीन हो जाता है और वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की सीमा को पार कर जो प्रेम विभु हो जाता है, वही वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ होता है। अथवा यों कहो कि प्रेम के सम्पादन में ही जीवन की पूर्णता निहित है। प्रेम की माँग सभी को है। प्रेम से किसी की तृप्ति नहीं होती, कितना ही हो, कम ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से प्रेम भी अनन्त ही है। अतः प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

निर्दोष जीवन में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से न्याय प्रेम का ही सहयोगी साधन है। परन्तु न्याय का उपयोग मानव अपने ही प्रति करने में सर्वांश में सफल होता है। न्याययुक्त जीवन

से अपने प्रति न्याय करने की भावना स्वतः समाज में फैलती है। ज्यों–ज्यों अपने प्रति न्याय–प्रियता सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों–त्यों बाह्य शासन से मुक्ति होती जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वयं नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार न्याय अन्याय को खाकर स्वतः प्रेम में विलीन हो जाता है। मानव होकर किसी अन्य के द्वारा शासित रहना मानव–जीवन का बड़ा अनादर है। इस अनादर का अन्त करने के लिए न्याय–प्रियता को अपना लेना अनिवार्य है।

किसी भी प्रणाली का राष्ट्र क्यों न हो, जब तक मानव–समाज अपने लिए न्याय–प्रियता को नहीं अपनाएगा, तब तक निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं होगी और उसके हुए बिना जीवन सर्वात्म–भाव से परिपूर्ण न होगा। सर्वात्म–भाव के बिना वैर–भाव का नाश सम्भव नहीं है और उसके नष्ट हुए बिना अन्तर्बाह्य संघर्ष मिट नहीं सकते। संघर्ष का नाश हुए बिना शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता सुरक्षित रह नहीं सकती। स्वाधीन जीवन में ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है। जिसे अपने लिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा है, उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं हो पाता। वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा द्वारा जब मानव अपने को वस्तु–व्यक्ति की दासता से मुक्त कर लेता है, तभी निर्दोषता प्राप्त कर प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने का अधिकारी होता है।

अपने द्वारा अपनी की हुई भूल मिटाने के लिए अपने को जो दण्डित करता है, उसी का नाम न्याय है। न्याययुक्त जीवन बनाने के लिए अपने पर अपने बल का उपयोग करना पड़ता है। उसी का नाम तप है। तप से असमर्थता नष्ट होती है, जिसके नष्ट होते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नहीं होती और कर्त्तव्यपरायणता स्वभाव से ही आ जाती है, जिसके आते ही समस्त दोष अपने आप गल जाते हैं और निर्दोषता से अभिन्नता हो जाती है। यही न्याय की पूर्णता है।

निर्दोषता से अभिन्न होने पर यदि प्रेम की माँग, अर्थात् उसकी भूख नहीं जगी, तो निर्दोषता में सजीवता नहीं रहेगी, अर्थात् शून्यता आ जाएगी। इस कारण निर्दोषता की सार्थकता प्रेम की प्राप्ति में ही है। न्याय निर्दोषता प्रदान कर सकता है; किन्तु सभी के प्रति अभेदता करने में समर्थ नहीं होता। भेद और भिन्नता का नाश प्रेम के द्वारा ही सम्भव है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदाय का उद्देश्य प्रेम ही है। व्यक्ति जिसकी सत्ता स्वीकार करता है, उसे उसी का प्रेम प्राप्त करना है और उसी के काम आना है। अपने अधिकार के त्याग का पाठ प्रेम पढ़ाता है और दूसरों के अधिकार देने की बात न्याय सिखाता है। दूसरों के अधिकार दे डालने पर ही अपने अधिकार के त्याग की सामर्थ्य आती है। अधिकार दिये बिना अपने अधिकार को माँगना न्याय नहीं है और अधिकार देने पर अधिकार माँगना प्रेम नहीं है। प्रेमी वही हो सकता है, जिसमें अधिकार की गन्ध भी नहीं है, इसी कारण प्रेम विभु हो जाता है। अधिकार–लालसा के रहते हुए प्रेम की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी ढंग से अधिकार–त्याग की ही बात बताई गई है। उसके बिना सर्वांश में सत्य, अहिंसा आदि का प्रादुर्भाव भी नहीं हो सकता। उसके हुए बिना वास्तविक एकता हो ही नहीं सकती और न संघर्ष ही नष्ट हो सकता है। इस दृष्टि से समस्त मत और सम्प्रदायों की अन्तिम परिणति प्रेम में ही होती है। समस्त प्रयास सत्य और अहिंसा के सम्पादन में और सत्य–अहिंसा का उपयोग प्रेम की प्राप्ति में ही निहित है। इस दृष्टि से समस्त मत, सम्प्रदायों की परावधि प्रेम में है। न्याय दोषों को और प्रेम भेद को खाकर निर्दोषता तथा अभेदता प्रदान कर कृतकृत्य करने में समर्थ होता है। बस, यही जीवन की सफलता है।

—•—

नवम प्रकरण

अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव–जीवन का निर्माण हुआ है; क्योंकि विवेकयुक्त जीवन ही मानव–जीवन है। इस जीवन में अपने लिए कुछ भी करने की बात नहीं है, यह इसकी महिमा है। पर जब व्यक्ति जीवन के महत्त्व को भूल जाता है, तब पराधीनता, जड़ता और अभाव आदि में आबद्ध होकर स्वाधीन होने पर भी अनेक प्रकार की विवशताओं में अपने को जकड़ लेता है और फिर वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की कामनाओं में अपने को बाँध लेता है। जो जीवन जगत् और जगत् के प्रकाशक के लिए उपयोगी था, वह जीवन अपने लिए अन्य का आश्रय खोजता है; किन्तु उसे किसी से भी कुछ मिलता नहीं। व्यक्ति जिन कामनाओं में जीवन–बुद्धि करता है, वे सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं और जो कामनाएँ पूरी होती हैं, उनका सुख नवीन कामनाओं को जन्म देता है। वस्तुस्थिति ज्यों–की–त्यों रहती है। ऐसी भयंकर परिस्थिति में जब मानव निज–विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखता है, तब उसे कोई भी वस्तु ऐसी नहीं प्रतीत होती, जो उसके काम आ जाए। तब वह मिली हुई वस्तुओं को विश्व की धरोहर जान कर विश्व की सेवा में व्यय कर लेता है और उसके बदले में किसी प्रकार की आशा नहीं करता। तब उसकी पराधीनता अपने–आप नष्ट हो जाती है, जिसके होते ही वह अपने जीवन को अपने लिए उपयोगी पाता है। परन्तु यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जो अपने ज्ञान से अपनी ओर देखते हैं।

ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं है; कारण, कि बिना ज्ञान के कर्मानुष्ठान सिद्ध नहीं होता। जो कर्म की सिद्धि में हेतु है, वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, जिस सामग्री से कर्म

सम्पन्न होता है, वह सामग्री भी कर्मानुष्ठान से पूर्व ही प्राप्त होती है। ज्ञान तथा कर्म–सामग्री जिसकी देन है, उस दाता को कोई भले ही न जाने, पर यह तो सभी को मान्य है कि जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है।

बाह्य दृष्टि से भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिस आहार से शरीर का निर्माण होता है, वह आहार विश्व की उन शक्तियों से मिलता है, जो व्यक्तिगत नहीं हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि शरीर और विश्व में स्वरूप की एकता है। विभिन्न रचना के कारण गुणों की भले ही भिन्नता हो; किन्तु विश्व से किसी भी वस्तु का विभाजन नहीं हो सकता। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो विश्व के साम्राज्य से अलग की जा सके। इस दृष्टि से उत्पन्न हुई प्रत्येक वस्तु विश्व की ही सम्पत्ति है। व्यक्ति प्रमादवश विश्व से उत्पन्न हुई वस्तु को अपनी मानता है, पर विश्व को अपना नहीं मानता। इस विवेक–विरोधी मान्यता ने एकता में अनेकता को जन्म दिया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि समष्टि–सृष्टि के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत सृष्टि प्रतीत होने लगी है। उस प्रतीति को सत्य मान लेने से दो व्यक्तियों, वर्गों एवं देशों में संघर्ष उत्पन्न हो गया है। उसका अन्त करना मानवमात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु वस्तु विशेष की तो कौन कहे, समस्त विश्व मिल कर भी मानव की वास्तविक माँग को पूरा करने में समर्थ नहीं है। विश्व जिसके प्रकाश से प्रकाशित है, उसकी जिज्ञासा और विश्व से उत्पन्न हुए पदार्थों की कामना किसमें है ? इसकी खोज करना अनिवार्य है।

जिसकी ममता किसी वस्तु में नहीं है और जिसने किसी व्यक्तित्व में अपने को आबद्ध नहीं किया है, उसे विश्व के साम्राज्य की किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति की कामना नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि किसी भी वस्तु की ममता क्या विवेक–सिद्ध है ? कदापि नहीं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु समस्त विश्व के साथ एक है। विश्व की ममता से पूर्व वस्तु की ममता प्रमाद है और कुछ नहीं।

यदि समस्त विश्व अपना है, तब भी कामना उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि प्राप्त की कामना नहीं होती। यदि कोई भी वस्तु अपनी नहीं है, तब भी कामना नहीं हो सकती। अतः यह स्पष्ट विदित होता है कि कामनाओं की उत्पत्ति अविवेक–सिद्ध है। निज–विवेक का आदर करते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, जिनके नष्ट होते ही मिली हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति तथा समस्त विश्व से असंगता प्राप्त होती है। उस असंगता में क्या जीवन है ? उसका अनुभव असंग होने से पूर्व सम्भव नहीं है। किन्तु असंग होना मानवमात्र के लिए सम्भव है। मानव की यह स्वाधीनता प्राकृतिक नियमानुसार सुरक्षित है। प्राप्त स्वाधीनता का सदुपयोग न करने में ही पराधीनता निहित है। स्वाधीनता का सदुपयोग न करने और पराधीनता में ही जीवन–बुद्धि स्वीकार कर लेने से व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न हुआ है। इस दृष्टि से पराधीनता के लिए मानव–जीवन नहीं है। मानव–जीवन में जो कुछ पराधीनता है, वह अपनी ही भूल है। भूल जाने हुए की होती है। जिसे नहीं जानते, उसकी भूल नहीं होती। इस दृष्टि से अपने जाने हुए का प्रभाव अपने पर न होने से ही विश्व की वस्तुओं में ममता और व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न हुआ है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं की ममता तथा व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न होने पर भी जिज्ञासा की भूख सुरक्षित है। कामना–पूर्ति के प्रलोभन से जिज्ञासा में शिथिलता भले ही आ जाय; किन्तु उसका नाश नहीं होता। वर्तमान वस्तुस्थिति में ज्यों–ज्यों सन्देह बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थाई होती जाती है। जिस काल में मानव वास्तविकता बिना जाने किसी प्रकार भी चैन से नहीं रहता, उसी काल में समस्त कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

जिज्ञासा का प्राकट्य अल्प ज्ञान में होता है। जिज्ञासा उसी के सम्बन्ध में होती है, जिसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी है। अल्प ज्ञान को ही अज्ञान कह सकते हैं। उससे भिन्न अज्ञान जैसी

कोई वस्तु नहीं है। यदि कोई ज्ञान के अभाव को अज्ञान मानता है, तो उसकी यह मान्यता युक्ति–युक्त नहीं है; कारण, कि अज्ञान को व्यक्ति स्वयं स्वीकार करता है। स्वीकृति उसकी नहीं होती, जिसके सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है, अपितु अल्प ज्ञान ही अज्ञान है।

अल्प ज्ञान का प्रकाशन स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता, किसी विशेष ज्ञान से ही हो सकता है। जिस ज्ञान से अल्प ज्ञान का प्रकाशन होता है, वह ज्ञान स्वयं–प्रकाश है। स्वयं–प्रकाश से ही अपना और अपने से भिन्न का प्रकाशन होता है। उस स्वयं–प्रकाश से ही मानव को विवेक रूपी प्रकाश मिला है।

जब मानव मिले हुए विवेक के प्रकाश में इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि से विश्व के साम्राज्य को देखता है, तब उसमें अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं। सन्देह की वेदना बीज रूप से विद्यमान जिज्ञासा को पुष्ट करती है। जिज्ञासा अल्प ज्ञान के आधार पर आधारित कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं के नष्ट होते ही इन्द्रिय–दृष्टि बुद्धि–दृष्टि में विलीन हो जाती है और बुद्धि–दृष्टि विश्व से विमुख होकर निज–विवेक के प्रकाश में विलीन हो जाती है। विवेक का प्रकाश वस्तुओं की ममता और व्यक्तित्व के मोह से उत्पन्न हुए अंधकार को नष्ट कर देता है, जिसके नष्ट होते ही पराधीनता, जड़ता तथा अभाव का अभाव हो जाता है और फिर मानव–जीवन विश्व तथा विश्व के प्रकाशक के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इस पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति मानवमात्र प्राप्त परिस्थिति में कर सकता है।

यद्यपि मानव–जीवन का आरम्भ पराधीनता से होता है, परन्तु उसकी पूर्णता स्वाधीनता में निहित है। बालक का जन्म होते ही उसे अल्प ज्ञान के आधार पर यही प्रतीत होता है कि जो कुछ प्रतीत होता है, वह मेरे काम आयेगा। बालक के शरीर का ज्यों–ज्यों विकास होता जाता है, त्यों–त्यों बालक अपने शिक्षण एवं पोषण के

लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव करता है। इतना ही नहीं, शरीर युवक तथा युवती के रूप में परिणत होने पर भी विकसित शरीर और सम्पादित शिक्षा के उपयोग के लिए अनुकूल कार्य तथा परिस्थिति की आवश्यकता अनुभव करता है। इससे यह स्पष्ट ही हो जाता है कि जब तक प्राणी की रुचि अपने को ज्ञान, विज्ञान तथा कलाओं द्वारा सुन्दर बनाकर सुख–भोग के आदान–प्रदान की है, तब तक पराधीनता ही पराधीनता रहती है। प्राकृतिक विधान के अनुसार जब उसे पराधीनता में अभाव तथा बन्धन एवं जड़ता का ही अनुभव होता है, तब स्वाधीनता की लालसा जाग्रत होती है। स्वाधीनता किसी परिस्थिति द्वारा सम्भव नहीं है और न किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था के आश्रय से मिल सकती है। इस अनुभूति के आधार पर मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि से अतीत के जीवन की खोज करता है, यही वास्तविक जिज्ञासा है। उस जिज्ञासा को कामना–पूर्ति–अपूर्ति के सुख–दुःख से दबाना अथवा उसे शिथिल बना देना भूल है। इस भूल का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, उस ज्ञान में भूल मिटाने का ज्ञान भी विद्यमान है। वह ज्ञान अनन्त की ओर से मानव को स्वयं मिलता है। उस ज्ञान के प्रकाश में ही मानव को कर्त्तव्य का निर्णय करना है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। किसी अप्राप्त परिस्थिति के आधार पर किसी भी कर्त्तव्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। प्रत्येक परिस्थिति में कर्त्तव्य का पालन हो सकता है। कर्त्तव्य से च्युत होने के लिए मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। किसी भी मानव को सामर्थ्य तथा विवेक–विरोधी कार्य नहीं करना है। पर जिस कार्य में सामर्थ्य तथा विवेक का विरोध न हो, उसका करना अनिवार्य है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग विवेक रूपी विधान के अधीन करना ही कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध विश्व के साथ है। अपने लिए किसी भी मानव को कोई ऐसा कार्य नहीं करना है, जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति–विनाशयुक्त वस्तुओं से हो। अपने प्रति तो मानव को केवल यही करना है कि विश्व की वस्तुओं में जो उसने ममता कर ली है,

उसका अन्त कर डाले, अर्थात् ममता–रहित हो जाए। ममता के नष्ट होते ही निर्विकारता अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही मानव अपने आप उस जीवन से अभिन्न हो जाता है, जिस जीवन में पराधीनता, जड़ता तथा अभाव नहीं है। उसी जीवन में उसके प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव को सब कुछ मिला है। उसे कोई माने, अथवा न माने, वह दाता तो सभी को सर्वदा अपना ही जानता है। सच तो यह है कि जो हमारे जानने में आता है, वह हमारा नहीं है और जिसे हम नहीं जानते हैं, पर वे हमें जानते हैं, वे ही हमारे हैं, उनमें आत्मीयता और जिसे हम बुद्धि तथा इन्द्रिय दृष्टि से जानते हैं, उसकी ममता का त्याग ही मानव को अपने लिए अभीष्ट है।

ममता–रहित होते ही प्रत्येक कर्म विश्व की सेवा हो जाता है और अपने में अपनी आत्मीयता स्वतः प्रकट होती है। सेवा मानव–जीवन को विश्व के लिए, ममता का त्याग अपने लिए और ममता–रहित आत्मीयता अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। सेवा सुन्दर समाज के निर्माण में, त्याग अपने कल्याण में तथा आत्मीयता से उत्पन्न हुई प्रियता अनन्त को रस प्रदान करने में हेतु है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मानव–जीवन का आरम्भ पराधीनता से होता है और उसके विकास की परावधि स्वाधीनता में होती है। स्वाधीन जीवन से विश्व और विश्व के प्रकाशक को रस मिलता है। यह मंगलमय विधान है। जिससे इस विधान की अभिव्यक्ति होती है, उसी अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव–जीवन निर्मित है। पर यह रहस्य वे ही विचारशील जानते हैं, जिन्होंने मानव–जीवन का स्पष्ट दर्शन किया है।

—•—

दशम प्रकरण

व्यक्तिगत जीवन की ओर जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि से देखता है, तब उसे अपने में असमर्थता का बोध होता है। असमर्थता का ज्ञान सामर्थ्य की आवश्यकता है। असमर्थता ने ही अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व उत्पन्न कर दिये है। यदि असमर्थता न होती, तो विवेक–विरोधी कर्म में प्रवृत्ति ही न होती और न व्यर्थ–चिन्तन ही होता। व्यक्ति को जो करना चाहिए, वह हो नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिए, उसे वह विवश होकर कर बैठता है। यह विवशता असमर्थता सिद्ध करती है। जिस प्राप्त सामर्थ्य का व्यय वर्तमान कर्त्तव्य–कर्म में करना चाहिए, उसे न करके व्यक्ति विवेक–विरोधी कार्य करने लगता है, जिसके करने से अपने में अपराधी–भाव उत्पन्न हो जाता है। यही अन्तर्द्वन्द्व है। इतना ही नहीं, जिसमें चित्त सदा के लिए लग जाना चाहिए, उसमें लगता नहीं और जिससे हट जाना चाहिए, उससे हटता नहीं। यद्यपि हटाने और लगाने का प्रयास मानव न जाने कब से कर रहा है; किन्तु अभी तक यह समस्या हल नहीं हुई। इसके हल न होने का मुख्य कारण यह है कि व्यक्ति असमर्थता का नाश किए बिना ही समस्या हल करने का असफल प्रयास करता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि असमर्थता का नाश करने के लिए क्या करना अनिवार्य है। मिली हुई सामर्थ्य के दुरुपयोग से असमर्थता उत्पन्न होती है। असमर्थता सामर्थ्य का अभाव नहीं है, अपितु सामर्थ्य की न्यूनता है। प्राकृतिक नियमानुसार अल्प सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव असमर्थता का अन्त कर आवश्यक सामर्थ्य की उपलब्धि में सर्वदा समर्थ है।

जिस व्यक्ति को अल्प सामर्थ्य का सदुपयोग करना है, उसे भूतकाल की घटनाओं के आधार पर अपने को दोषी नहीं मानना

चाहिए और न किसी अन्य को दोषी समझना चाहिए। प्राकृतिक नियमानुसार भूतकाल सभी का सदोष और वर्तमान निर्दोष है। भूतकाल की सदोषता की व्यथा से व्यथित होकर वर्तमान की निर्दोषता में आस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। निर्दोषता में आस्था स्वीकार करते ही निर्दोषता के प्रति स्वतः प्रियता जाग्रत होती है और वह फिर दोषों का जन्म ही नहीं होने देती। निर्दोषता की प्रियता ही निर्दोषता को सुरक्षित रखने में समर्थ है।

यद्यपि निर्दोषता की प्रियता बीज रूप से मानव–मात्र में विद्यमान है, परन्तु दोष –जनित सुख की दासता ने निर्दोषता की प्रियता को विकसित नहीं होने दिया। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम हुआ है कि मानव मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग न करके उसका दुरुपयोग करने लगा है, जिससे उत्तरोत्तर असमर्थता ही बढ़ती जाती है। असमर्थता का अन्त करने के लिए वर्तमान की निर्दोषता में अविचल श्रद्धा, और दोष–जनित सुख के प्रलोभन का त्याग, अनिवार्य है।

वर्तमान की निर्दोषता के आधार पर अपने में से अपराधी–भाव का नाश बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसके होने पर दोषों की उत्पत्ति ही नहीं होती और उसके हुए बिना प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग स्वतः होने लगता है, जिसके होते ही उत्तरोत्तर आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होते ही विवेक–विरोधी कर्म अपने आप मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही आवश्यक कार्य अपने आप पूरे हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कार्य के अन्त में चित्त स्वभाव से ही उसमें लग जाता है, जिसमें लगना चाहिए और उससे अपने आप हट जाता है, जिससे हटना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि जो व्यक्ति सब प्रकार से असमर्थ हो जाए, अर्थात् अल्प सामर्थ्य का भी सद्व्यय न कर सके, तो उसका अर्न्तद्वन्द्व कैसे नष्ट होगा ? सर्वांश में असमर्थता प्राणों के

रहते हुए नहीं आती और सर्वांश में मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग कोई भी व्यक्ति नहीं कर पाता। इस दृष्टि से अल्प सामर्थ्य के सदुपयोग में मानव असमर्थ नहीं है। अपने को असमर्थ मान लेना प्रमाद है। वास्तविक असमर्थता में तो अनन्त सामर्थ्य निहित है। सीमित सामर्थ्य के अभिमान में आबद्ध होने से ही मानव सर्व–समर्थ से विमुख हुआ है। जो वास्तव में कुछ नहीं कर सकता, उसे कुछ न करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है, यह मंगलमय विधान है। असमर्थता में सहयोग स्वतः प्राप्त होता है। प्रत्येक मानव को वही करना है, जिसे वह कर सकता है। जो कुछ नहीं कर सकता, उसके द्वारा कोई बुराई भी नहीं हो सकती। बुराई की उत्पत्ति न होने पर भलाई अपने आप होने लगती है, अर्थात् समस्त दोषों के त्याग में निर्दोषता निहित है। क्या कोई मानव यह भी नहीं कर सकता कि की हुई भूल को पुनः न दोहराए ? जो ऐसा करने के लिए भी इन्कार करे, तो समझना चाहिए कि वह बुराई को 'बुराई' जान कर करता है। उसे अपना भला अभीष्ट नहीं है। जिसे अपना बुरा अभीष्ट नहीं है, वह किसी के साथ बुराई नहीं करता। जो किसी के साथ बुराई नहीं करता, उसका भला अपने आप हो जाता है। इस मंगलमय विधान को जो अपना लेता है, उसका विकास अवश्य होता है। अन्तर्द्वन्द्व मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो और किसी से सुख की आशा मत करो। ऐसा करने से अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। सुख की आशा से ही समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं। पराये दुःख से दुःखी होने पर ही सुख की आशा गलती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने दुःख से दुखी उन्हीं को होना पड़ता है, जो पराए दुःख से दुखी नहीं होते। दूसरों के दुःख से दुखी हुए बिना किसी का भी दुःख नहीं मिट सकता, यह प्राकृतिक विधान है।

अब यदि कोई यह कहे कि पराए दुःख से दुःखी होना अनिवार्य क्यों है ? तो कहना होगा कि प्राकृतिक नियम के अनुसार

शरीर विश्व से और व्यक्ति समाज से अभिन्न है। जो व्यक्ति समाज के दुःख से दुखी नहीं होता, उसकी समाज से अभिन्नता नहीं होती, जिसके न होने से व्यक्तित्व का मोह दृढ़ हो जाता है। व्यक्तित्व का मोह व्यक्ति को निरन्तर दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलाता है। इस कारण पराए दुःख से दुखी होने पर ही व्यक्तित्व का मोह गल सकता है, जिसके गलने पर ही दुःख का अन्त हो सकता है।

पराए दुःख का अर्थ क्या है ? अपने से अधिक दुखियों को देखकर सुख भोगने में जो असमर्थ है तथा जिसे दूसरों का सुख प्रसन्नतापूर्वक सहन होता है, वही पराए दुःख से दुखी होता है। पर –पीड़ा से पीड़ित प्राणी निज–पीड़ा से सर्वदा मुक्त है। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। अन्तर्द्वन्द्व मिटते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प नष्ट हो जाते हैं और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं। संकल्प–पूर्ति के सुख का भोग न करने पर अपने आप निर्विकल्पता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकल्पता में ही शान्ति तथा सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता मानवमात्र को प्राप्त हो सकती है। अतः सामर्थ्य के सम्पादन में मानव स्वाधीन है।

अब यदि कोई यह कहे कि सामर्थ्य का स्वरूप क्या है ? बहुत से सामान का संग्रह करना और बहु संख्यक जन–बल सम्पादित करना तथा ज्ञान, विज्ञान और कलाओं से व्यक्तिगत जीवन को सुन्दर बनाना एवं समाज में उच्च स्थान तथा पद विशेष को प्राप्त कर लेना एक बड़ी भारी सामर्थ्य है–ऐसा मान लेना सामर्थ्य के वास्तविक स्वरूप को न जानना है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश में हो जाती है, वह व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश किसी व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश के अधिकारों का अपहरण नहीं करता, अर्थात् उसके द्वारा सम्पादित वस्तु आदि के बल का दुरुपयोग नहीं होता।

इस दृष्टि से सामर्थ्यशाली वही है, जो बल का दुरुपयोग तथा

विवेक का अनादर नहीं करता और जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती एवं जो सभी के लिए उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होता है। जिससे कभी किसी का अहित नहीं होता, वही सामर्थ्यवान है। वास्तविक सामर्थ्य मानव को उत्तरोत्तर पराधीनता से स्वाधीनता और जड़ता से चिन्मयता की ओर अग्रसर करती है, यह निर्विवाद सत्य है।

अन्तर्द्वन्द्व मिटाने में मानव बहिर्द्वन्द्व मिटाने की अपेक्षा अपने को अधिक स्वतन्त्र अनुभव करता है; कारण, कि बहिर्द्वन्द्व तब उत्पन्न होता है, जब कुटुम्बी, पड़ौसी, वर्ग, देश और विश्व के लोग अपने–अपने मन की बात पूरी कराते हैं और परिस्थिति प्रतिकूल होती है। मानव दूसरों के मन की बात पूरी करने में जितना स्वाधीन है, उतना अपने मन की बात दूसरों के द्वारा पूरी कराने में स्वाधीन नहीं है। प्राकृतिक विधान से निर्मित प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में जितनी स्वाधीनता है, उतनी उसके परिवर्तन में नहीं है।

परन्तु जब व्यक्ति इस बात पर विचार नहीं करता कि जिस कार्य में स्वाधीनता नहीं है, उसकी आशा न करे और जिसमें स्वाधीन है, उसको उदारतापूर्वक कर डाले, तब बेचारा बहिर्द्वन्द्व में आबद्ध हो जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि उसे दूसरों के कर्त्तव्य और अपने अधिकार की स्मृति तथा दूसरों के अधिकार और अपने कर्त्तव्य की विस्मृति हो जाती है। वह बेचारा इतना विवश हो जाता है कि सदैव अपने दुःख का कारण दूसरों को ही मानता रहता है। यह सोच ही नहीं पाता कि मेरे द्वारा भी दूसरों को दुःख होता है। जिस दुःख का कारण हम दूसरों को मानेंगे, वह दुःख भला कभी मिट सकता है? कदापि नहीं। दुखी का दुःख तभी मिट सकता है, जब वह अपने दुःख का कारण किसी और को न माने। अतः बहिर्द्वन्द्व मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि मानव यह स्वीकार करे कि मेरे दुःख का कारण कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। इस स्वीकृति के बिना बहिर्द्वन्द्व मिटाने की योग्यता का

सम्पादन नहीं होगा। जब मानव अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता, तब वह क्रोध–रहित हो जाता है। क्रोध–रहित होते ही उसे अपने कर्त्तव्य की स्मृति आती है, जिसके आते ही उसके द्वारा दूसरों के अधिकार सुरक्षित होने लगते हैं। यह नियम है कि जिससे जिसके अधिकार सुरक्षित होते हैं, वह उसके अधीन हो जाता है अथवा यों कहो कि परस्पर एकता हो जाती है और स्नेह उदित होता है। ऐसा होते ही विपक्षी में भी कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है। इतना ही नहीं, ज्यों–ज्यों स्नेह का आदान–प्रदान बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों अपने–अपने अधिकार की विस्मृति होती जाती है, जिसके होने से पराधीनता स्वतः मिटती जाती है। सर्वांश में पराधीनता का नाश होते ही द्वन्द्वातीत जीवन में प्रवेश हो जाता है।

क्रोध का नाश होते ही कर्त्तव्य की स्मृति के साथ–साथ मानव में क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति भी होती है। क्षमाशीलता अपने प्रति होने वाले अन्याय को भुला देती है। इतना ही नहीं, ज्यों–ज्यों क्षमाशीलता सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों–त्यों प्रतिहिंसा की भावना स्वतः गलती जाती है, जिसके गलते ही वैर भाव की गंध भी नहीं रहती। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है।

प्रतिकूल परिस्थिति भी व्यक्ति के जीवन में बहिर्द्वन्द्व उत्पन्न कर देती है। भोग की रुचि है, भोगने की शक्ति भी है, पर भोग्य वस्तु नहीं है। इस दशा में व्यक्ति खीझ उठता है और परिस्थिति से संघर्ष करने की बात सोचता है। इस बात को भूल जाता है कि परिस्थिति जिस विधान से निर्मित है, वह विधान सभी के लिए हितकर है। यद्यपि भोग में प्रवृत्ति होने पर भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश अपने आप हो जाता है। इतना ही नहीं, भोग–प्रवृत्ति के अन्त में बेचारा भोगी पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध हो जाता है। परन्तु उसकी दृष्टि भोग के परिणाम पर नहीं जाती। यह नियम है कि जब तक भोगी, भोग के परिणाम को

नहीं अपनाएगा, तब तक न तो अनुकूल परिस्थिति ही आएगी और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश ही होगा। जो विधान मानव को भोग–वासना से रहित करने के लिए प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित करता है, उसी विधान से मानव को विवेक भी मिला है। यदि मानव निज–विवेक के प्रकाश में बुद्धि–दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति को देखे, तो उसे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं है, अपितु प्रत्येक परिस्थिति उत्पत्ति–विनाश–युक्त है। परिस्थितियों में जीवन–बुद्धि न रहने पर प्रत्येक परिस्थिति का समान अर्थ हो जाता है।

अब यदि कोई यह कहे कि परिस्थिति जीवन नहीं, तो क्या है ? क्या जीवन उसे कहते हैं, जो पर–प्रकाश्य हो तथा जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो ? क्या कोई ऐसी परिस्थिति है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो अथवा स्वयंप्रकाश हो ? तो यह मानना ही पड़ेगा कि ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है। फिर परिस्थितियों को जीवन मानना प्रमाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक विधान के अनुसार साधन–सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि मानव विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर डाले, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य–चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति को ही सर्वोत्कृष्ट परिस्थिति जानकर उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उसके सदुपयोग में तत्पर होने से परिस्थितिजन्य द्वन्द्व मिट सकता है।

अन्तर् और बहिर्द्वन्द्व मिटने पर समस्त जीवन सुख–शान्ति एवं स्वाधीनता से परिपूर्ण हो जाता है। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से सुख और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति से शान्ति और शान्ति से असंग होने पर स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। अन्तर और बाह्य–द्वन्द्व ने ही सुख–शान्ति तथा स्वाधीनता का अपहरण किया है। इस दृष्टि से अन्तर् और बाह्य–द्वन्द्व को मिटाना अत्यन्त आवश्यक

है। मिली हुई सामर्थ्य के सदुपयोग से, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानने से, अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य को पूरा करने से व्यक्ति व्यर्थ–चिन्तन से रहित होता है, जिसके होते ही अन्तर्बाह्य द्वन्द्व स्वतः नष्ट हो जाते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

जिस प्रकार मानव को असमर्थता का अन्त करना अभीष्ट है, उसी प्रकार पराधीनता का नाश करना भी उसकी अपनी स्वाभाविक माँग है। स्वाभाविक माँग उसी को कहते हैं, जिसकी पूर्ति अनिवार्य तथा अवश्यम्भावी हो। स्वाधीनता का अर्थ सुख–भोग नहीं है। सुख–भोग की सिद्धि पराधीनता के बिना नहीं होती। यह सभी को मान्य होगा कि संकल्प–पूर्ति में ही सुख की अनुभूति होती है। जिन साधनों से संकल्प पूरा होता है, उन साधनों की दासता में व्यक्ति को आबद्ध होना ही पड़ता है। अतः यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सुख का भोग व्यक्ति को पराधीन बना देता है। सुख के प्रलोभन में ही नवीन संकल्पों की उत्पत्ति निहित है। यद्यपि सुख प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने आप नष्ट हो जाता है, तथापि सुख का प्रलोभन नवीन संकल्प को उत्पन्न कर प्राणी को उसी स्थिति में आबद्ध कर देता है, जो संकल्प–पूर्ति से पूर्व और संकल्प उत्पत्ति के पश्चात् थी। चाहे कितने ही संकल्प पूरे क्यों न हो जाएँ, संकल्प–पूर्ति का सुख नवीन संकल्प को जन्म देकर बेचारे प्राणी को संकल्प–अपूर्ति के दुःख में ही बाँध देता है। इस दृष्टि से संकल्प–पूर्ति मानव–जीवन की वास्तविक माँग नहीं है। सभी संकल्पों की पूर्ति प्राकृतिक नियमानुसार सम्भव नहीं है। इस कारण भी संकल्प–पूर्ति मानव–जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता। किन्तु स्वाधीनता की माँग तो मानव में स्वाभाविक है। ज्यों–ज्यों पराधीनता की वेदना सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों–त्यों स्वाधीनता की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। जिस काल में स्वाधीनता की लालसा सर्वांश में विकसित हो जाती है, अर्थात् मानव जब पराधीनता को किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकता, तब पराधीनता सदा के लिए स्वतः मिट जाती है।

पराधीनता उसी समय तक जीवित रहती है, जिस समय तक व्यक्ति स्वाधीनता के बिना रह सकता है। स्वाधीनता की माँग पराधीनता को खा लेती है, यह निर्विवाद सत्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति क्या वर्तमान जीवन की वस्तु है ? निःसन्देह स्वाधीनता सर्वकाल में मिल सकती है, उसके लिए किसी अन्य वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी स्वाधीनता प्राप्त हो सकती है। स्वाधीनता के लिए मानव को विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना है। अब विचार यह करना है कि विवेक–विरोधी सम्बन्ध क्या है ? जिससे देश–काल की दूरी हो सकती है, उससे सम्बन्ध स्वीकार करना ही विवेक–विरोधी सम्बन्ध है। उत्पन्न हुई कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिससे नित्य सम्बन्ध रह सके। नित्य सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जिससे न तो देश–काल की दूरी हो और न जिसकी उत्पत्ति हुई हो। जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका विनाश भी नहीं होता। जो नाशरहित है, वह कभी भी अप्राप्त नहीं है, अर्थात् नित्य प्राप्त है। नित्य प्राप्त की खोज करने पर पराधीनता अपने आप मिट जाती है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि नित्य प्राप्त की खोज किस प्रकार की जाए। जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उससे असहयोग करने पर, जो नित्य प्राप्त है, उससे योग हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता में विलीन हो जाती है। जिससे असहयोग करना है, उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है। किसी को भला और बुरा मानकर उसकी ममता मिटाना सम्भव नहीं है। ममता उसी की मिट सकती है, जिसको भला अथवा बुरा न मानें। किसी को भला–बुरा समझना उससे सम्बन्ध जोड़ना है। अन्तर केवल इतना है कि भला समझकर रागपूर्वक और बुरा समझकर द्वेषपूर्वक सम्बन्ध होता है। स्वाधीनता का पुजारी न तो किसी को भला मानता है और न बुरा। अब यदि कोई यों कहे कि जब भला और बुरा प्रतीत होता है, तब उसे क्यों न मानें ? इस समस्या पर विचार करने से ऐसा प्रतीत

होता है कि कामना–पूर्ति के प्रलोभन से ही कोई भला और कोई बुरा प्रतीत होता है। कामनायुक्त प्राणी किसी के विषय में यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता और कामना–रहित होने पर विवेक–विरोधी सम्बन्ध अपने आप नष्ट हो जाता है, जिसके मिटते ही स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है।

सुख का प्रलोभन ही दुःख के भय को जन्म देता है और फिर पराधीनता अपने आप आ जाती है। सुख का प्रलोभन मिटते ही दुःख का भय अपने आप नष्ट हो जाता है। पराधीनता व्यक्ति को जड़ता में आबद्ध करती है और स्वाधीनता दिव्य–चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है। पराधीनता को सहन करना अकर्त्तव्य को जन्म देना है और स्वाधीनता के बिना किसी भी प्रकार से चैन से न रहना समस्त विकारों को नष्ट करने का मुख्य साधन है। इस दृष्टि से स्वाधीनता की लालसा में ही निर्विकारता निहित है। इसी कारण स्वाधीनता मानवमात्र की स्वाभाविक माँग है। स्वाभाविक माँग से निराश होना और अस्वाभाविक कामनाओं को सहन करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रमादरूपी अन्धकार विवेक–रूपी प्रकाश से सदा के लिए मिट सकता है। विवेक अनन्त के मंगलमय विधान से मानवमात्र को प्राप्त है। जाने हुए का प्रभाव विवेक का आदर करने में सहायक है। अतः ज्यों–ज्यों मानव अपने ज्ञान से अपने को प्रकाशित करता जाता है, त्यों–त्यों प्रमाद अपने आप नष्ट होता जाता है। ज्ञान का प्रकाश ही वास्तविक प्रकाश है। ज्ञान के प्रकाश में ही स्वाधीनता का निवास है। स्वाधीनता के बिना अमरत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अमर जीवन ही जीवन है। जन्म और मृत्यु का प्रवाह जीवन नहीं है। इसी कारण मानवमात्र को मृत्यु अभीष्ट नहीं है।

यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि जन्म क्यों होता है ? वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा सुख का भोग करने से ही जन्म होता है। जन्म किसका होता है ? जो पराधीनता में जीवन–बुद्धि स्वीकार करता है, उसी का जन्म होता है। पराधीनता मं जीवन–बुद्धि

स्वीकार करने से प्राणी जन्म–मरण आदि के दुःख में आबद्ध रहता है। ज्यों–ज्यों दुःख का प्रभाव सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों–त्यों पराधीनता नष्ट करने की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस काल में लालसा पराधीनता–जनित सुख–भोग की कामनाओं को सर्वांश में खा लेती है, उसी काल में स्वाधीनता की माँग पूरी हो जाती है, जिसके होते ही जन्म–मरण से रहित दिव्य–जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से स्वाधीनता वर्तमान जीवन की माँग है। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए किसी बाह्य संग्रह की अपेक्षा नहीं है, अपितु प्राकृतिक नियम के अनुसार जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनकी ममता का त्याग और जो वस्तुएँ अप्राप्त हैं, उनकी कामना का त्याग अनिवार्य है। प्राप्त वस्तुओं की ममता का नाश होते ही निर्विकारता और अप्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित होते ही निर्विकल्पता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। निर्विकारता आ जाने पर कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही विद्यमान राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है। निर्विकल्पता योग की भूमि है। यदि निर्विकल्पता से सम्पादित शान्ति में रमण न किया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग की प्राप्ति होती है। योग स्वाधीनता का प्रतीक है। योग की अभिव्यक्ति होने पर नवीन राग उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि योग भोग की वासनाओं को खा लेता है। निर्विकारता तथा निर्विकल्पता से मानव राग–रहित हो जाता है। राग–रहित होते ही वास्तविकता का बोध तथा अनुराग की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। योग सामर्थ्य तथा स्वाधीनता का और बोध नित्य जीवन का एवं अनुराग अनन्त रस का प्रतीक है अथवा यों कहो कि योग, बोध तथा प्रेम में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता, जीवन एवं अनन्त रस निहित हैं। योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति में ही व्यक्तिगत जीवन की सफलता निहित है। इसी कारण मानवमात्र योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में सर्वदा समर्थ है। इस रहस्य को भलीभाँति जान लेने पर मानव–जीवन का वास्तविक सौन्दर्य स्पष्ट हो जाता है।

एकादश प्रकरण

प्राकृतिक नियमानुसार व्यक्ति और समाज में एकता है। व्यक्ति समाज के अधिकारों का पुंज और समाज व्यक्ति का कार्य क्षेत्र है। जिस प्रकार शरीर और विश्व में विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज में विभाजन नहीं हो सकता। सुन्दर व्यक्तियों से सुन्दर समाज और सुन्दर समाज से ही सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण होता है। यद्यपि वातावरण का भी व्यक्ति पर बड़ा गहरा प्रभाव होता है, परन्तु सुन्दर व्यक्ति के द्वारा वातावरण में भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार भूमि, जल, वायु आदि से प्रत्येक बीज अपने स्वभावानुसार ही विकास पाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने स्वभावानुसार ही समाज से पोषित होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज में पारस्परिक एकता है। सुन्दर समाज की माँग प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक माँग है। किन्तु सुन्दर व्यक्तियों से ही समाज में सुन्दरता व्यक्त होती है। इस कारण सुन्दर व्यक्तियों के निर्माण में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने को सुन्दर बनाने में स्वाधीन है। व्यक्ति की जो माँग है, उसी के अनुरूप उसका जीवन और जीवन के अनुसार ही समाज का निर्माण हो जाता है। ज्यों–ज्यों सौन्दर्य की माँग सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों–त्यों असुन्दरता नष्ट होती जाती है। असुन्दरता के नाश में ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से सौन्दर्य की माँग में ही सुन्दरता निहित है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि व्यक्ति का सौन्दर्य क्या है ? जिस व्यक्ति के द्वारा समाज के अधिकार अपहृत नहीं होते और जो स्वयं अधिकार–लालसा से रहित है, वही सुन्दर है। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति समाज के अधिकारों का अपहरण क्यों करता है ? व्यक्ति समाज को अपने से भिन्न मानने पर समाज के अधिकारों का अपहरण कर अपने को सबल बनाने का प्रयास करता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने पर व्यक्ति स्वयं निर्बल हो जाता है और फिर वह अपने कर्त्तव्य तथा दूसरों के अधिकारों को भूल जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि न तो वह स्वयं ही सुन्दर हो पाता है और न उसके द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण ही होता है।

सुन्दर समाज के निर्माण का दायित्व मानवमात्र पर है, किसी वर्ग विशेष पर नहीं। जब व्यक्ति कर्त्तव्य–च्युत हो जाता है, तभी समाज में भिन्न–भिन्न प्रकार के विप्लव मचते हैं। परिस्थितियों की उत्पत्ति प्राकृतिक विधान से होती है; किन्तु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का दायित्व मानव पर ही है। प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थिति के होने से उसके सदुपयोग में कोई अन्तर नहीं होता। परिस्थिति सुखमय हो अथवा दुःखमय हो, कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी दोनों ही का सदुपयोग कर अपने को तथा समाज को सुन्दर बनाने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्यनिष्ठ मानव का जीवन विधान बन जाता है। उसके पीछे करोड़ों व्यक्ति चलने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का बड़ा ही ऊँचा स्थान है। एक–एक व्यक्ति के द्वारा समाज में क्रान्ति हुई है, हो सकती है और होती रहेगी। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति और समाज में जो एकता है, वह कैसे सुरक्षित रह सकती है। उसके लिए व्यक्तियों को प्राकृतिक नियम के अनुरूप एक नीति निर्धारित करनी होगी। वह नीति ही समाज का नेतृत्व करेगी। उस निर्धारित नीति को जीवन द्वारा समाज के समक्ष रखना होगा। बलपूर्वक नीति का पालन कराने से नीति हृदयंगम नहीं होती। उसके न होने से व्यक्ति और समाज के बीच में एक गहरी खाई बन जाती है, अर्थात् भेद उत्पन्न हो जाता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। जानते हुए भी व्यक्ति मान नहीं पाता और मानते हुए भी कर नहीं पाता। यह असमर्थता मानव ने अपने आप जीवन में उत्पन्न की है, अपना ह्रास

अपने आप किया है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जब तक मानव समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता स्वीकार न करेगा, तब तक उत्पन्न हुई निर्बलता नष्ट न होगी। जब तक प्राणी अपने को व्यक्तित्व, कुटुम्ब, वर्ग, जाति और देश की ममता में आबद्ध रखता है, तब तक उसका जीवन विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कारण, कि सीमित ममता अनेक आसक्तियों को उत्पन्न कर बेचारे प्राणी को कर्त्तव्य से च्युत कर देती है। उसी का दुष्परिणाम यह हुआ है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का, एक वर्ग दूसरे वर्ग का और एक देश दूसरे देश का विनाश करने में अपना महत्त्व मानता है अथवा यों कहो कि किसी की निर्बलता को अपना बल मानकर अपना सर्वनाश कर लेता है।

किसी की निर्बलता को अपना बल मानना अनीति है। अपितु प्राप्त बल को निर्बलों की धरोहर मानना, वास्तविक सुन्दर नीति है। इस नीति को अपनाते ही व्यक्ति, वर्ग, देश आदि के समस्त संघर्ष नष्ट हो जाएँगे और एक अनुपम शान्ति एवं स्नेह की स्थापना होगी।

इस सुन्दर नीति का अनुसरण करने के लिए व्यक्ति को सर्व प्रथम सर्वात्मभाव अपनाना पड़ेगा। सबके हित में ही अपना हित निहित है, अन्य की रक्षा में ही अपनी रक्षा है, दूसरों का विकास ही अपना विकास है। इतना ही नहीं, दूसरों की अवनति से अपनी अवनति अवश्यम्भावी है। प्राकृतिक विधान के अनुसार यही कर्त्तव्य-विज्ञान है।

कौटुम्बिक जीवन सामाजिक जीवन का एक अल्प क्षेत्र है। इस अल्प क्षेत्र में व्यक्ति क्रियात्मक प्रयोगों द्वारा अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ होता है। जिन नियमों के पालन करने से एक कुटुम्ब में सौन्दर्य आता है, उन्हीं नियमों का अनुसरण करने पर विश्व में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। कर्म सीमित होने पर भी यदि कर्त्ता का भाव असीम है, तो विश्व में सद्भावनाओं का प्रसार हो जाता है। सद्भावनाएँ कर्म को सुन्दर और कर्म की सुन्दरता सद्भावनाओं को

सजीव बनाने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक कुटुम्ब का विकास समाज के विकास में हेतु है। व्यक्ति का विकास कुटुम्ब के विकास में और कुटुम्ब का विकास समाज के विकास में साधन रूप हो जाता है।

जिस व्यक्ति के द्वारा किसी का अनादर तथा तिरस्कार नहीं होता एवं जो दुखियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होता है, उसकी माँग समाज को सदैव रहती है। इतना ही नहीं, उसका जीवन मानव–समाज के हृदय पर अविचल साम्राज्य स्थापित कर लेता है और यह नीति चरितार्थ हो जाती है कि व्यक्ति के विकास में ही समाज का विकास निहित है। प्राकृतिक नियम के अनुसार तो सभी अपने हैं अथवा अपने प्राण भी अपने नहीं हैं, वे भी उसी के हैं, जिसकी सारी सृष्टि है। यदि कोई यह कहे कि सृष्टि का कोई मालिक है–इस मान्यता पर मेरा विश्वास नहीं है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्राण मेरे नहीं हैं, जगत् के हैं। जितनी प्रियता अपने प्राणों में है, उतनी प्रियता जगत् में रखना वास्तविक नीति है। जिसमें प्रियता होती है, उसका विनाश अभीष्ट नहीं होता, अपितु उसके विकास में ही अभिरुचि होती है।

किसी को निन्दनीय मानने से यह प्रतिक्रिया होती है कि मानने वाले में उन दोषों का जन्म हो जाता है, जिनसे उसका जीवन स्वयं निन्दनीय बन जाता है। किसी को बुरा समझना किसी भी बुराई से कम बुराई नहीं है, अपितु सभी बुराइयों से बड़ी भयंकर बुराई है। किसी को बुरा न समझने का अर्थ यह नहीं है कि आप उसे श्रद्धास्पद बना लें। उसका अर्थ केवल इतना है कि उसे सर्वांश में दोषी न मानें और उसकी वर्तमान निर्दोषता पर अपनी दृष्टि रखें। उससे ऐसा व्यवहार करें कि वह स्वयं अपने दोष को भलीभाँति जान ले और उसे न दोहराने के लिए वह स्वयं दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जाए। नीति वही सार्थक है, जो दोषों के नष्ट करने में और निर्दोषता की अभिव्यक्ति में सहायक है। समस्त दोषों की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है, स्वभाव सिद्ध नहीं। अविवेक निज–विवेक का

अनादर है और कुछ नहीं। निज–विवेक का आदर करते ही अपने कर्त्तव्य का बोध व्यक्ति को स्वयं हो जाता है। विवेकपूर्वक निर्णीत कर्त्तव्य के पालन की सामर्थ्य मानव में विद्यमान है; कारण, कि जिस मंगलमय विधान से उसे विवेक मिला है, उसी से कर्त्तव्य–पालन की सामर्थ्य भी मिली है। वास्तविक विधान कहते ही उसको हैं, जिसके पालन में मानव सर्वदा स्वाधीन है। व्यक्तिगत जीवन द्वारा कौटुम्बिक जीवन में शान्ति तथा स्नेह का संचार करना तभी सम्भव होगा, जब परस्पर अपनी–अपनी भूल स्वीकार करने में कुटुम्ब के किसी भी सदस्य को संकोच न हो और भूल को 'भूल' स्वीकार कर लेने पर उसे क्षमा कर दिया जाए, अर्थात् उसे निर्दोष मान लिया जाए। किसी को दोषी ठहराने का प्रयास न करके यह प्रयास किया जाए कि वह स्वयं अपने दोष को प्रकट करने में समर्थ हो जाए। अपने द्वारा अपने दोष को जान लेने पर दोष–जनित वेदना स्वतः जाग्रत होती है और वह दोष–जनित सुख के राग को नष्ट कर देती है, जिसके नाश होते ही दोष की उत्पत्ति ही नहीं होती।

इस दृष्टि से अपनी ओर से किसी में दोष का आरोप न करना ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति में हेतु है। पर इस नीति को वे ही मानव स्वीकार कर सकते हैं, जो अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति क्षमा करने में ही विश्वास रखते हैं। जो व्यक्ति अपने प्रति क्षमा और दूसरों के प्रति न्याय करते हैं, वे अपने में उत्पन्न हुए दोषों को पोषित करते हैं और दूसरों में भी दोषों को जन्म देते हैं। इस अनीति से न तो व्यक्ति ही सुन्दर हो सकता है और न परिवार तथा समाज ही। दोष–रहित होने के लिए किए हुए दोष को स्वीकार करना अचूक उपाय है। अपने को दोषी मानना और किए हुए दोष का त्याग कर निर्दोषता की स्थापना न करना, निर्दोष होने का उपाय नहीं है। किए हुए दोष का त्याग करने पर कोई अपने को भले ही दोषी माने, उससे क्षुभित होना भूल है अथवा यों कहो कि क्षुभित तथा क्रोधित होना नवीन दोष को जन्म देना है। भूतकाल के दोष का त्याग और निर्दोषता की स्थापना वर्तमान को सरस तथा भविष्य को उज्ज्वल

बनाने में समर्थ है। इस दृष्टि से नीति वही सफल होती है, जो वर्तमान की नीरसता को खाकर भविष्य को उज्ज्वल बना सके। इस नीति को वे ही मानव अपनायेंगे, जो दोषी को दुःख न देकर उसे निर्दोष बनाने में आस्था रखते हैं। जो अपराधी को दण्ड देने में ही प्रसन्न होते हैं, वे अपने को और अपराधी को दोषी बनाए रखने में सहयोग देते हैं। इस अनीति का मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

नीति को क्रियात्मक रूप देना असीम नहीं हो सकता; किन्तु नीति के अनुरूप भाव असीम हो सकता है। सभी को आदर तथा प्यार देना भाव है, कर्म नहीं। आदर और प्यार की भूख प्राणी मात्र को स्वाभाविक है। सभी को आदर तथा प्यार देने में मानवमात्र समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि यदि किसी में वे दिव्यगुण हैं ही नहीं, जिनसे प्रेरित होकर आदर तथा प्यार दिया जाए। तो इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्वांश में कभी भी कोई दोषी नहीं है और जब वर्तमान सभी का निर्दोष है, तो क्या इस दृष्टि से सभी को आदर तथा प्यार नहीं दिया जा सकता ? अर्थात् अवश्य दिया जा सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार आदर तथा प्यार की भूख उसी समय तक रहती है, जिस समय तक व्यक्ति सर्वांश में निर्दोष नहीं है। जिनमें हमारी ममता नहीं है, उन प्राणियों को जब आदर और प्यार दिया जाता है, तब वे आदर और प्यार–जनित रस को पाकर दोष–जनित सुख का त्याग करने में समर्थ होते हैं। इस दृष्टि से प्राणीमात्र आदर तथा प्यार का पात्र है। यदि कोई यह जानकर भी आदर तथा प्यार देने में अपनी असमर्थता अनुभव करता है, तब उसे कम से कम किसी का अनादर तथा तिरस्कार न करने वाली नीति को तो स्वीकार कर ही लेना चाहिए। सर्वांश में निर्दोषता आ जाने पर तो किसी से आदर तथा प्यार पाने की माँग ही नहीं रहती। कारण, कि निर्दोष जीवन से तो सभी को सतत आदर तथा प्यार मिलता ही रहता है। इतना ही नहीं, उसमें तो देने का अभिमान भी शेष नहीं रहता।

जिससे सभी को सर्वदा सब कुछ मिल रहा है, उसे कोई क्या दे सकता है ? उसके जीवन का तो सभी को अनुसरण करना पड़ता है। इस दृष्टि से आदर तथा प्यार के पात्र वे ही हैं, जिन्हें उसकी भूख है। भूख उन्हीं को है, जो सर्वांश में निर्दोष नहीं हैं।

जिस प्राणी को भूमि आश्रय देती है, जल प्यास बुझाता है, सूर्य प्रकाश देता है, वायु श्वास लेने देती है तथा आकाश अवकाश देता है, भला वह मानव के आदर तथा प्यार का पात्र नहीं है ? अर्थात् अवश्य है। किसी का अनादर तथा तिरस्कार न करने से आदर तथा प्यार देने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे किसी का अहित नहीं होता, उसी का जीवन सर्वहितकारी सिद्ध होता है। जिस व्यक्ति से किसी की हानि नहीं होती, वही दूसरों के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है। यह मंगलमय विधान है।

व्यक्तिगत जीवन सुन्दर हो जाने पर पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन भी सुन्दर हो जाता है; क्योंकि व्यक्ति से ही परिवार तथा समाज आशा रखता है। प्रत्येक व्यक्ति पर यह दायित्व है कि जिस कार्य के करने में उसकी सामर्थ्य तथा विवेक का विरोध न हो और किसी के अधिकार का अपहरण न हो, उस कार्य को अवश्य पूरा कर दे। इसी नीति को अपना लेने पर कर्त्तव्य–परायणता आ जाती है, जिसके आते ही अकर्त्तव्य स्वतः नष्ट हो जाता है। जिस कार्य के करने में सामर्थ्य का विरोध हो; किन्तु विवेक का समर्थन हो, उस कार्य से जिसका सम्बन्ध है, उसके प्रति सद्भावना रखना अनिवार्य है और करुणित होकर क्षमा माँगना आवश्यक है। जिस कार्य में विवेक का विरोध हो और करने की सामर्थ्य हो, उस कार्य को तो किसी भी हेतु से करना नहीं है; क्योंकि विवेक–विरोधी कर्म ही अकर्त्तव्य है, जिसका मानव–जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्त्तव्य का मूल है–सर्वहितकारी भाव, जिसकी अभिव्यक्ति अनेक भेद होने पर भी एकता स्वीकार करने पर ही होती है। अतः सर्वात्मभाव की स्वीकृति में ही कर्त्तव्य–परायणता निहित है।

द्वादश प्रकरण

भौतिक दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है; अध्यात्म दृष्टि से सब अपना ही स्वरूप है; आस्तिक दृष्टि से प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नहीं। दार्शनिक भेद होने पर भी जीवन में कोई भेद नहीं है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने को सुन्दर बनाने में सर्वदा समर्थ है। जिसके जीवन में से दूसरों के अहित की भावना सर्वांश में नष्ट हो गई है, उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। दर्शन, सम्प्रदाय, मत, एवं वाद भिन्न–भिन्न प्रकार के होने पर भी मानव मात्र का उद्देश्य एक है। साधन–भेद होने पर साध्य में भेद स्वीकार करना साधन को ही साध्य मान लेना है। साधन का कुछ भाग प्रत्येक मानव का अलग–अलग है और कुछ भाग ऐसा है, जो सफलता के लिए सभी को अपनाना अनिवार्य है। जो भाग सभी के लिए अनिवार्य है, उसके पूरा करने में सभी सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन हैं। अपने अहित की आशा कोई भी किसी से नहीं करता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी के अहित की भावना किसी भी मानव को नहीं करना है। जब तक प्राणी किसी का बुरा नहीं चाहता, तब तक अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती। तो फिर अकर्त्तव्य में प्रवृत्ति हो ही कैसे सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। अकर्त्तव्य के त्यागी के लिए किसी को बुरा न समझना, यही महामन्त्र है। किसी को बुरा न समझने से विश्व की सेवा और अपनी शुद्धि स्वतः हो जाती है। शुद्धता की अभिव्यक्ति होने पर जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सामाजिक जीवन में विद्रोह की उत्पत्ति तभी होती है, जब परस्पर स्नेह की एकता सुरक्षित नहीं रहती। प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह के आदान–प्रदान की भूख मानव–मात्र को है। परन्तु ऊपरी भेद होने के कारण जब मानव में असहनशीलता, संकीर्णता, दुराग्रह

आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, तब स्नेह की भूख होने पर भी स्नेह का आदान–प्रदान असम्भव हो जाता है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। अपनी–अपनी विचारधारा की ममता को लेकर प्राणी वह भी करता है, जो करना चाहिए और वह भी कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए। अकर्त्तव्य के साथ–साथ किया हुआ कर्त्तव्य वास्तव में अकर्त्तव्य ही है। अकर्त्तव्य के नष्ट होने पर अल्प–से–अल्प कर्त्तव्य भी शान्ति, सामर्थ्य एवं स्वाधीनता को सुरक्षित रखने में समर्थ है। इतना ही नहीं, अकर्त्तव्य के त्याग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। अकर्त्तव्य का अन्त होते ही अनन्त के मंगलमय विधान से कर्त्तव्य–परायणता स्वतः आ जाती है। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न अपेक्षित नहीं रहता। जो नहीं करना चाहिए, उसका न करना ही मुख्य पुरुषार्थ है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या नहीं करना चाहिए ? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दर्शन, सम्प्रदाय, मत एवं वाद आदि मान्यताओं के आधार पर परस्पर प्रीति का भेद करना अकर्त्तव्य है। इतना ही नहीं, शासन–प्रणाली, धर्म, संस्कृति, भाषा, प्रान्त तथा देश की भिन्नता के आधार पर भी पारस्परिक एकता सुरक्षित न रखना अनीति है। इस अकर्त्तव्य तथा अनीति के रहते हुए सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। सुन्दर समाज के निर्माण का दायित्व एकमात्र मानव–समाज पर ही है।

निज–विवेक के प्रकाश में जीवन रहने से अनेकता में एकता का दर्शन बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। जितनी मान्यताएँ हैं वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की प्रतीक मात्र हैं। जिन मान्यताओं से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है, वे सभी के लिए त्याज्य हैं और जो मान्यताएँ कर्त्तव्य को जन्म देती हैं, वे सभी के लिए मान्य हैं। जिस प्रकार भाषा का भेद होने पर अर्थ का भेद नहीं होता, उसी प्रकार कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली मान्यताओं में भेद होने पर भी वास्तविक जीवन में जिसकी सभी को माँग है, कोई भेद नहीं रहता। भेद से

अभेद की ओर तथा असत्य से सत्य की ओर एवं अकर्त्तव्य से कर्त्तव्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने में ही सभी का हित निहित है। विधान की अधीनता में ही स्वाधीनता है। निज–विवेक ही विधान का प्रतीक है। इस कारण विवेकयुक्त जीवन ही मानव–जीवन है। विवेक–विरोधी बात चाहे अपने देश, वर्ग अथवा जाति की ही क्यों न हो, उसका त्याग ही करना है। विवेक–विरोधी कार्य किसी भी परिस्थिति में करना हितकर नहीं है। किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास करना विवेक–विरोधी कार्य है। कर्त्तव्य–विज्ञान की दृष्टि से जिस विकास के मूल में किसी का विनाश है, उसका परिणाम विनाश है, विकास नहीं। इस कारण विवेकी जन किसी के अहित में किसी के हित का दर्शन नहीं करते। सेवा चाहे जिसकी की जाए, पर क्षति किसी की भी न की जाए। बल निर्बल की सेवा के लिए मिला है। उसका उपयोग निर्बलों की रक्षा में ही करना है। ममता के आधार पर बहु संख्यक सामर्थ्यशाली व्यक्ति अल्प–संख्यक और निर्बलों को क्षति पहुँचाते हैं, यह बड़ी ही अनीति की बात है। सबल के सम्पर्क में रहने वाले निर्बल को निर्भयता प्रदान करना ही सबलता का सदुपयोग है। जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश से दूसरे व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश को भय होता है, तो समझना चाहिए कि भय देने वाला पक्ष विश्व में विद्रोह तथा संघर्ष को जन्म दे रहा है। भय देना अथवा भयभीत होना भूल है। इस भूल से प्रत्येक मानव को रहित होना अनिवार्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार भयभीत उन्हीं को होना पड़ता है, जो अपने से निर्बलों को भय देते हैं। भय–रहित होकर दूसरों को अभय करना मंगलमय नीति है।

समस्त प्रकार के भय का कारण एकमात्र भेद है। अनेक प्रकार के बाह्य–भेद होने पर भी स्नेह की एकता भेद में अभेद का दर्शन कराने में समर्थ है। मानव को जितनी वस्तुएँ मिली हैं, उनमें सबसे निकट जो वस्तु है, वह है उसका शरीर तथा विचारधारा। प्राकृतिक

नियम के अनुसार शरीर का विश्व से विभाजन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से शरीर विश्वरूपी सागर की एक नन्हीं सी बूँद है। उस शरीर की ममता ने विश्व की आत्मीयता का हनन किया है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि प्रीति की एकता पर दृष्टि नहीं रही। प्रत्येक विचारधारा के मूल में विचारक का दर्शन है। किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण से यह सिद्ध नहीं है कि समस्त विश्व एक नहीं है। तो फिर सुख–लोलुपता के कारण सर्वात्मभाव की उपेक्षा कर, संकीर्णता में आबद्ध होना प्रमाद के अतिरिक्त और क्या है ? जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु इन्द्रिय–दृष्टि से अलग–अलग दिखाई देती है, उसी प्रकार व्यक्तिगत विचारों में भी भेद प्रतीत होता है। किन्तु प्रत्येक विचारधारा की उपयोगिता जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए है, वह उद्देश्य एक है। उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहती। अब यदि कोई यह कहे कि वह उद्देश्य क्या है ? तो विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि वह उद्देश्य है– प्रेम। यदि व्यक्ति अपनी–अपनी विचारधारा के अनुसार अपने जीवन में प्रेम का सम्पादन कर सके, तो उसकी विचारधारा उसके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है और प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश पाने से उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रेम किसी मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज और देश की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। जो प्रेम किसी सीमा में आबद्ध है, वह प्रेम ही नहीं है, अपितु ममता है, मोह है, आसक्ति है, जिसमें आबद्ध होने से किसी का हित नहीं है, अपितु सभी का अहित ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो नीति प्रेम को विभु बनाने में समर्थ नहीं है, वह सर्वथा त्याज्य है।

प्रेम का प्रादुर्भाव उन्हीं में होता है, जो अपने को समस्त आसक्तियों से मुक्त कर लेते हैं। कर्त्तव्यरूप आसक्तियों से वही मुक्त हो सकता है, जो कर्त्तव्यनिष्ठ होकर अपने को सुन्दर बनाने में समर्थ है। अपने से भिन्न के सुधार की बात कह कर समाज पर

शासन करना, उसमें उच्च स्थान पाना, उसको अपनी खुराक बनाना एवं दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, तथा दो देशों में भेद उत्पन्न कर देना, सुधार नहीं है, अपितु अपना सर्वनाश करना है और दूसरों को हानि पहुँचाना है। गुरु, नेता और शासक बनकर दूसरों के सुधार की बात वे ही लोग करते हैं, जो सुधार के नाम पर सुख–भोग में प्रवृत्त होते हैं। जगत् का गुरु, नेता तथा शासक वही हो सकता है, जो अपना गुरु, नेता तथा शासक है। सच्चे गुरु के पीछे समस्त विश्व स्वतः चलता है। उसे विश्व के पीछे दौड़ना नहीं पड़ता। सच्चे नेता के पीछे समाज की प्रगति स्वतः होती है। उसे समाज में संगठन बनाकर संघर्ष नहीं करना पड़ता। शासक वही उपयोगी सिद्ध होता है, जिसके विधान को दोषी स्वयं मानने के लिए तत्पर हो जाए। अब विचार करो कि ऐसा गुरु, नेता और शासक कौन है ? ऐसा गुरु वही हो सकता है, जिसका जीवन साधन–तत्त्व से अभिन्न है। ऐसे गुरु को उपदेश करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा महापुरुष कहीं हो; उसे कोई जाने, न जाने, माने, न माने; फिर भी उसके जीवन से समस्त विश्व को प्रकाश मिलता है। जिस प्रकार हिमालय से अनेक नदियाँ निकलकर भूमि को हरा–भरा बनाती हैं, उसी प्रकार जो वास्तव में जगत् का गुरु है, उससे प्रेम की अविच्छिन्न धारा निकलकर विश्व में चिर–शान्ति की स्थापना करती है और आनन्द की गंगा लहराती है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जो समस्त ममताओं से रहित, देहाभिमान को गलाकर, प्रेम के अधिकारी हो गये हैं।

अनन्त सौन्दर्य का स्रोत अनन्त है और वह अनन्त सभी का है। पर अपनी बनाई हुई परिच्छिन्नता का अन्त होने पर ही अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होती है। वह अभिन्नता जिसे प्राप्त है, वही जगत् का गुरु है। इस प्रकार का गुरु–पद मानवमात्र को मिल सकता है। परन्तु कब ? जब वह निज–विवेक के प्रकाश में अपने जीवन को बुद्धि–दृष्टि से देखकर विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा

विश्वास का अन्त कर, सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाए।

इन्द्रियों को मन के और मन को बुद्धि के अधीन करना ही अपने पर अपना नेतृत्व करना है। जो बुद्धिमान प्राणी अपने मन को समझा–बुझाकर अपनी बुद्धि के अधीन नहीं कर सकता, उसे दूसरों को समझाने–बुझाने का कोई अधिकार नहीं है। बौद्धिक बल से निर्बल बुद्धि को दबाना और संगठन के बल पर समाज में स्थान पाना, ऐसा नेतृत्व समाज में संघर्ष को जन्म देता है। पर यह बात उस समय तक समझ में नहीं आती, जब तक विपक्षी से पराजित होकर स्वयं पराधीन नहीं हो जाता। पराधीन होने पर जिसे पराधीनता का कारण अपनी भूल मालूम होती है, वह अपने पर अपना नेतृत्व करने का अधिकारी होता है और जब वही प्रकाश उसके जीवन से समाज को मिलता है, तब समाज अपने–आप उसे अपना नेता मान लेता है। ऐसे नेताओं से प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग एवं समाज को पथ–प्रदर्शन मिलता है। किसी वर्ग का पक्ष लेकर उस वर्ग के दुःख का कारण किसी अन्य वर्ग को बता कर और किसी प्रकार का प्रलोभन दिखा कर वर्ग का संगठन करना और बौद्धिक बल से दूसरे वर्ग के विनाश की योजना बनाना, परस्पर में संघर्ष को जन्म देना है। इस प्रकार के नेतृत्व से कभी–भी सुन्दर समाज का निर्माण नहीं होता। शासक के रूप में जब तक मानव अपने पर अपना शासन नहीं करेगा, तब तक जीवन में उत्पन्न हुए दोषों का नाश नहीं होगा और निर्दोषता की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। अपने पर अपना शासन वही कर सकता है, जिसमें तप का बल हो और जो अपने दोष की वेदना से दुखी हो; पर–दोष–दर्शन का जिसे अवकाश न हो और निर्दोषता के लिए जो सतत व्याकुल हो, वही अपने पर अपना शासन कर सकता है। अपने पर अपना शासन का फल है कि जीवन निर्विकार हो जाए। निर्विकार जीवन से समाज में निर्विकारता की लालसा जाग्रत होती है और फिर निर्विकार प्राणी का जीवन समाज के लिए विधान बन जाता है, अर्थात् समाज यथाशक्ति उसका अनुसरण करने लगता है। उसके परामर्श से समाज दैनिक जीवन की समस्याओं

को हल करने लगता है। इस प्रकार अपने पर अपना शासन करने से भी जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। बलपूर्वक दोषों का निवारण करना, शासन करना है। समझ-बूझकर दोषों का त्याग करना, नेतृत्व करना है। असत् को 'असत्' जानकर उससे असहयोग करना अपना गुरु आप बनना है। इसी दृष्टि से प्रत्येक मानव अपना शासक, नेता तथा गुरु हो सकता है और फिर वह किसी अन्य से शासित नहीं होता और न उसे किसी बाह्य गुरु तथा नेता की अपेक्षा रहती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके द्वारा राष्ट्र, नेता तथा गुरुजनों के अधिकारों का अपहरण होता है। जिससे किसी के अधिकार का अपहरण होता है, वह अपना शासक, नेता तथा गुरु नहीं हो सकता। जो अपना शासक, नेता तथा गुरु है, वह सभी की आदर तथा प्यार पूर्वक यथोचित यथाशक्ति सेवा एवं पूजा करता है अथवा यों कहो कि ऐसे महामानव की माँग सभी को रहती है और उसकी अपनी कोई माँग नहीं रहती।

मानव-जीवन का सबसे सुन्दर चित्र यही है कि जिस जीवन की माँग सभी को हो और उसकी अपनी कोई माँग न रहे, अर्थात् जो कामरहित होकर सही काम करता है एवं चिर-विश्राम तथा अमरत्व से अभिन्न होकर प्रेम के साम्राज्य में निवास करता है। सुन्दर मानव से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है, यह निर्विवाद सत्य है।

—•—

मानव-जीवन का
सबसे सुन्दर चित्र यही है
कि जिस जीवन की माँग सभी
को हो और उसकी अपनी कोई माँग न
रहे, अर्थात् जो कामरहित होकर सही काम
करता है एवं चिर-विश्राम तथा अमरत्व से
अभिन्न होकर प्रेम के साम्राज्य में निवास
करता है। सुन्दर मानव से ही सुन्दर समाज
का निर्माण होता है, यह निर्विवाद सत्य है।

मूल्य
1 5 0

५००० प्रतियाँ
दिसम्बर २०००